आत्मानुशासन

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थ-रचना करने की प्रतिज्ञा
002) पापनाशक और सुखदायक उपदेश
003) कटु उपदेश से भी भयभीत न होने की प्रेरणा
004) सच्चे उपदेशों की दुर्लभता
005) उपदेशदाता वक्ता का स्वरूप
006) उपदेशदाता वक्ता का स्वरूप
007) सच्चे श्रोता का स्वरूप
008) धर्माचरण की प्रेरणा
009) आप्त की उपासना की प्रेरणा
010) सम्यग्दर्शन का स्वरूप और भेद-प्रभेद
011) सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेद
012) आज्ञा मार्ग और उपदेश सम्यक्त्व का स्वरूप
013) सूत्र, बीज और संक्षेप सम्यक्त्व का स्वरूप
014) विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व का स्वरूप
015) सम्यग्दर्शन से ही मंदकषाय, शास्त्रज्ञान, चारित्र और तप की पूज्यता
016) सुकुमार (सरल) क्रिया करने का उपदेश
017) अणुव्रत ग्रहण करने की प्रेरणा
018) संसार के सभी प्राणियों को धर्म करने का उपदेश
019) विषय सुख भोगते हुए भी धर्म की रक्षा करने की प्रेरणा
020) धर्माचरण से सुख भंग होने के भय का निराकरण
021) कृषक के उदाहरण से धर्म रक्षा की प्रेरणा
022) धर्म का फल बिना मांगे ही
023) आत्मा के परिणामों से ही पुण्यऔर पाप की उत्पत्ति
024) धर्म संचय न करनेवालों की निन्दा
025) विषय सुख भोगते हुए भी धर्मोपार्जन सम्भव है
026) धर्म का फल
027) धर्म का घात करने से पाप होता है
028) शिकारादि कार्य प्रत्यक्ष दुःख के कारण
029) शिकार आदि में आसक्ति अत्यन्त निर्दयता
030) झूठ और चोरी के त्याग की प्रेरणा
031) पुण्यशालियों को उपसर्ग भी दुःखदायक नहीं
032) पुण्योदय बिना पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं
033) हिंसादिक के त्यागी सत्पुरुष आज भी हैं
034) लौकिक जीवों की मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति
035) विषयान्ध पुरुष की दुर्दशा का वर्णन
036) विषयाभिलाषा की व्यर्थता
037) पुण्योपार्जन की प्रेरणा
038) विषयों का स्वाद अत्यन्त कटु
039) तृष्णा की विकरालता
040) परिग्रह त्याग की प्रेरणा
041) गृहस्थाश्रम के त्याग की प्रेरणा
042) गृहस्थाश्रम में होनेवाले निरर्थक क्लेशों का वर्णन
043) आशारूपी अनि से दग्ध व्यक्ति की चेष्टा
044) पुण्योदय के बिना कार्यसिद्धि नहीं
045) न्यायोपार्जित धन से कभी सम्पदा नहीं बढ़ती
046) धर्म, सुख, ज्ञान और गति का स्वरूप

047) धनोपार्जन छोड़कर धर्म-साधन की प्रेरणा
048) बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के त्याग की प्रेरणा
049) आशारूपी नदी के पार होने की प्रेरणा
050) विषयाभिलाषा से व्याकुल जीव की चेष्टा
051) आशा के वशीभूत जीव का अविवेक
052) जगत की क्षणभंगुरता
053) वर्तमान दु:खों का वर्णन
054) आत्म कल्याण की प्रेरणा
055) तृष्णा से उत्पन्न दुःख का वर्णन
056) मोहरूपी अग्नि की विशेषता
057) मोह-निद्रा का वर्णन
058) मोह-निद्रा के वश हुए प्राणी की दशा
059) शरीर की बन्दीगृह से तुलना
060) घर-कुटुम्ब आदि का स्वरूप
061) समभाव धारण करने की प्रेरणा
062) लक्ष्मी की अस्थिरता
063) शरीर की नश्वरता
064) विषयों के त्याग की प्रेरणा
065-066) परिग्रह रहित यती ही महासुखी
067) मुनियों के गुणों की प्रशंसा
068) मुनियों के गुणों की प्रशंसा
069) शरीर का विनाश निश्चित
070) इस नश्वर आयु और शरीरादिकों के द्वारा अविनश्वर पद प्राप्त किया जा सकता है
071) आयु की क्षणभंगुरता
072) आयु की क्षणभंगुरता
073) श्वास की उत्पत्ति में ही दुःख
074) संसार में जीवन बहुत थोड़ा
075) अनेक प्रयत्नों के बाद भी मनुष्यों की रक्षा संभव नहीं
076) काल से अधिक बलवान कोई नहीं
077) काल द्वारा प्राणियों को मारने की विधि
078) यमराज का आकस्मिक आगमन
079) मरण से रहित कोई नहीं
080) स्त्री शरीर से प्रीति छोड़ने की प्रेरणा
081) मनुष्य पर्याय की काने गन्ने से तुलना
082) आयु की अनिश्चितता
083) कुटुम्बीजन हितकारी नहीं
084) विवाहादि में सहायक बन्धुजन ही वास्तविक शत्रु
085) तृष्णारूपी अग्नि में जलने पर शांति की भ्रान्ति
086) बाल सफेद होने का यथार्थ आशय
087) संसार-समुद्र का स्वरूप
088) ज्ञान-ज्योतिवन्त जीव धन्य हैं
089) बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में धर्म की दुर्लभता
090) बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में कर्म जनित दुःख
091) वृद्धावस्था से आत्महित की प्रेरणा
092) विषयी जीवों को युक्तिपूर्वक उपालम्भ
093) व्यसनी को हिताहित का अभाव
094) बुद्धिमानों का प्रमादी होना शोचनीय
095) ज्ञानियों का राजादिक का दास होना विचारणीय
096) धर्म प्राप्ति का विधान
097) यतियों का पर-हित के प्रति अनुराग
098) शरीर : समस्त आपदाओं का स्थान
099) गर्भावस्था के दुःख
100) अज्ञानी की मूर्खता

101) कामजन्य वेदना
102) उत्तरोत्तर उत्कृष्ट त्याग के उदाहरण
103) विरक्ति होने पर सम्पत्ति के त्याग में क्या आश्चर्य ?
104) लक्ष्मी का त्याग होने पर विभिन्न परिणामवाले त्यागी
105) शरीर से मोह-त्याग की प्रेरणा
106) रागादि छोड़ने की प्रेरणा
107) दया-दम आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा
108) भेद-ज्ञान और वीतरागता की प्रेरणा
109) बाल-ब्रह्मचारियों की प्रशंसा
110) परमात्मा बनने का रहस्य
111) तप करने की प्रेरणा
112) ध्यान तप का ध्येय और फल
113) तप ही समस्त सिद्धियों का साधन है
114) तप की महिमा
115) समाधि में ध्यान को सुरक्षित रखने की प्रेरणा
116) तप करने में ज्ञान की महिमा
117) इस शरीर के साथ आधे क्षण भी रहना सह्य नहीं
118) परीषह सहने की प्रेरणा
119) विधि का विलास अलंघ्य है
120) संयमधारियों की महिमा
121) ज्ञानियों की दीपक से तुलना
122) अशुभ और शुभ छोड़ने का क्रम
123) ज्ञानियों का तप और श्रुत के प्रति अनुराग कल्याणकारी है
124) अशुभराग में दोष की अधिकता
125) मोक्षमार्ग की यात्रा
126) स्त्रियों का महाविषमय स्वरूप
127) स्त्रीरूपी सर्प के विष की औषधि नहीं
128) मुक्ति-स्त्री से ही अनुराग की प्रेरण
129) नारी को सरोवर की उपमा
130) नारी, काम द्वारा निर्मित घातस्थल है
131) नारी के प्रति आसक्ति में निर्लज्जता
132) काम सेवन में खेद
133) स्त्री की योनि का वीभत्सरूप
134) विषय-सुख का पोषण करनेवाले ठग
135) नारी विष से भी अधिक भयानक है
136) स्त्रियों को चन्द्रमा की उपमा देना उचित नहीं है
137) मन की नपुंसकता
138) तप की श्रेष्ठता
139) गुण हीनता से हानि होती है
140) दोष का अंश भी निन्द्य है
141) दोष बतानेवाले दुर्जन भी हितकारी हैं
142) गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं
143) धर्मात्माओं की दुर्लभता
144) विवेकी जन प्रशंसा में सन्तुष्ट नहीं होते
145) ज्ञानियों में श्रेष्ठ कौन ?
146) अहित का त्याग और हित में प्रवर्तन करने की प्रेरणा
147) गुणों का ग्रहण और दोषों के त्याग की प्रेरणा
148) विवेकियों का कर्त्तव्य
149) यथार्थ चारित्र पालनेवाले मुनि विरले ही हैं !
150) स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवालों की संगति का निषेध
151) अयाचक वृत्ति धारण करने की प्रेरणा
152) कौन दीन और कौन अभिमानी
153) याचक का गौरव दाता में चला जाता है

154) वाञ्छक और अवाञ्छक की स्थिति
155) दरिद्रता की श्रेष्ठता !
156) आशारूपी खाई की अगाधता
157) आशाएरूपी खाई भरने का उपाय : तृष्णा का परित्याग
158) निर्ग्रन्थों द्वारा परिग्रह-ग्रहण का निषेध
159) कलि-काल का चक्रवर्तित्व
160) कर्मों के निमित्त से होनेवाली हानि
161) इन्द्रिय-सुख के लिए भी धैर्य की आवश्यकता
162) महामुनियों का कुछ भी बिगाड़ने में कर्म असमर्थ
163) आशा को निराश करनेवालों का कर्म कुछ नहीं बिगाड़ सकता
164) स्तुत्य और निद्य व्यक्तियों की चरम स्थिति
165) विषयाभिलाषियों द्वारा तप छोड़ने पर आश्चर्य
166) तप से च्युत होनेवालों की निर्भयता पर आश्चर्य
167) तप को मलिन करनेवालों की निन्दा
168) आश्चर्य-उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण
169) रागादि का नाश करने की प्रेरणा
170) शास्त्राभ्यास की प्रेरणा
171) वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप
172) प्रमाण से सिद्ध वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप
173) परस्पर विरुद्ध धर्ममय सभी पदार्थ
174) आत्मा का असाधारण स्वरूप
175) ज्ञान का फल और मोह की महिमा
176) भव्य और अभव्य में अंतर
177) ध्यान की प्रक्रिया
178) अज्ञानी को कर्म-बन्ध पूर्वक होने वाली निर्जरा
179) अविपाक निर्जरा की प्रेरणा
180) बन्ध और मुक्ति का कारण
181) पाप, पुण्य और मुक्ति का कारण
182) राग-द्वेष का कारण
183) मोह का स्वरूप और उसके विनाश का उपाय
184) मृत्यु के पश्चात् मित्र भी शत्रु हैं
185) इष्ट-वियोग में शोक करनेवाले की स्थिति
186) शोक का कारण और फल तथा उसके अभाव की प्रेरणा
187) पर-लोक में कौन सुखी और कौन दुःखी ?
188) जन्म की मरण से समानता
189) लाभ और पूजादि की कामना का निषेध
190) तप और श्रुत का वास्तविक फल
191) विषयाभिलाषा से अनर्थ
192) विषयों का दोष जानकर भी उनके सेवन में आश्चर्य
193) आत्म-हितकारी आचरण की प्रेरणा
194) बाह्य तप करने की प्रेरणा
195) शरीर ही अनर्थों की परम्परा का कारण है
196) अज्ञानियों द्वारा शरीर-पोषण का प्रयोजन
197) अज्ञानियों द्वारा शरीर-पोषण का प्रयोजन
198) इससे तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है
199) शरीर और स्त्री से राग छोड़ने की प्रेरणा
200) दो द्रव्यों में एकत्व होना असम्भव
201) शरीर से ममत्व और सुख की आशा रखना आश्चर्यजनक है
202) शरीर को धिक्कार है
203) सच्चे ज्ञान और सच्चे साहस का स्वरूप
204) रोग होने पर ज्ञानियों की परिणति
205) रोग होने पर ज्ञानियों की परिणति
206) रोग मिटने से सुख मानना अज्ञान है

207) असाध्य रोग होने पर शरीर से उदास होने की प्रेरणा
208) शरीर का ग्रहण जन्म का और त्याग मुक्ति का कारण है
209) शरीर के कारण जीव भी अस्पृश्य
210) शरीर के तीन प्रकार
211) शरीर के तीन प्रकार
212) कषाय-शत्रु को जीतना आसान
213) कषायों के रहते हुए गुणों की प्राप्ति होना दुर्लभ
214) कषायों के आधीन होनेवालों का उपहास
215) साधर्मियों के प्रति ईर्ष्या के त्याग की प्रेरणा
216) क्रोध से होनेवाली हानि
217) मान से होनेवाली हानि
218) मान के त्याग की प्रेरणा
219) सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं, अतः गर्व करना व्यर्थ है
220) माया से होनेवाली हानि
221) माया से होनेवाली हानि
222) माया से होनेवाली हानि
223) लोभ से होनेवाली हानि
224) निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव
225) निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव
226) गुणों से मण्डित मुनिराज ही मुक्ति के पात्र
227) रत्नत्रय की रक्षा करने की प्रेरणा
228) संयम के उपकरणों से भी अनुराग करने का निषेध
229) तप और श्रुतरूपी निधि की रक्षा करने की प्रेरणा
230) आशारूपी शत्रु से सावधान रहने की शिक्षा
231) मोह का सर्वथा नाश करने की प्रेरणा
232) वीतरागता के अभाव में दुःख
233) इन्द्रिय-सुख से दुःखों की शान्ति असम्भव
234) ज्ञान-चारित्ररूपी मूल्य चुकाकर मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा
235) भोग्य और अभोग्य के विकल्पों से पार
236) प्रवृत्ति और निवृत्ति से पार अवस्था प्राप्त करने की प्रेरणा
237) प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके कारण
238) अपूर्व-अपूर्व भाव करने की प्रेरणा
239) हेय-उपादेय का स्वरूप
240) अशुभादि के त्याग का क्रम
241) आत्मा और बन्ध की सिद्धि पूर्वक मोक्ष की सिद्धि
242) शरीरादि से प्रीति ही आपत्ति
243) देह के प्रति एकत्व बुद्धि के त्याग की प्रेरणा
244) विद्वानों का अपूर्व कौशल
245) बन्ध और निर्जरा की परिपाटी
246) योगी कौन ?
247) प्रतिज्ञाओं के बाँध से तपरूपी सरोवर की सुरक्षा
248) अल्प दोष भी बहुत हानिकारक है
249) पर- निन्दा के त्याग की प्रेरणा
250) गुणवानों के अल्प दोष भी प्रसिद्ध
251) ज्ञानियों की वैचारिक दशा
252) विवेकियों का आचरण
253) तन और चेतन की भिन्नता
254) शरीर से राग छोड़ने की प्रेरणा
255) मोह-त्याग की प्रेरणा
256) साधुओं को सभी पदार्थ सुख के निमित्त
257) कर्मोदय होने पर मुनिराज को खेद नहीं होता
258) मुनिराज की ध्यानस्थ अवस्था
259) निस्पृह मुनिराज से प्रार्थना

260) चारित्रवन्त साधु धन्य हैं !
261) भेद-विज्ञान की महिमा
262) सज्जनों द्वारा परिग्रह-त्यागी वन्दनीय
263) कर्मोदय में उदासीन जीव को नवीन कर्म-बन्ध नहीं
264) यतियों की वृत्ति आश्चर्य की भूमि
265) मुक्ति में ज्ञानादि गुणों का नाश मानना मिथ्या
266) आत्मा का स्वरूप
267) अनन्त सुखमय हैं सिद्ध भगवान
268) ग्रन्थ के अभ्यास का फल
269) गुरुवर जिनसेनाचार्य का स्मरण
270) अन्तिम मङ्गलाचरण

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भगवत्गुणभद्राचार्य-देव-प्रणीत

श्री

आत्मानुशासन

मूल संस्कृत गाथा

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-आत्मानुशासन नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-गुणभद्र-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र आत्मानुशासन नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीगुणभद्रदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

जो न्यूनता विपरीतता अर अधिकता से रहित है ।

सन्देह से भी रहित है स्पष्टता से सहित है ॥

जो वस्तु जैसी उसे वैसी जानता जो ज्ञान है ।

जाने जिनागम वे कहें वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥र.क.श्रा.-42॥

मुक्तिमग के मग तथा जो ललित में भी ललित हैं ।

जो भविजनों के कर्ण-अमृत और अनुपम शुद्ध हैं ॥

भविविजन के उग्र दावानल शमन को नीर हैं ।

मैं नमूँ उन जिनवचन को जो योगिजन के वंद्य हैं ॥नि.सा.-क.१५॥

(देव वंदना)
सुध्यान में लवलीन हो जब, घातिया चारों हने ।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लिया तब आपने ॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निज सम कर लिये ।
रविज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये ॥
(शास्त्र वंदना)
स्याद्वाद, नय, षट् द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रमाण का ।
जड़कर्म चेतन बंध का, अरु कर्म के अवसान का ॥
कहकर स्वरूप यथार्थ जग का, जो किया उपकार है ।
उसके लिये जिनवाणी माँ को, वंदना शत बार है ॥
(गुरु वंदना)
नि:संग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से ।
निज आत्म में ही विहरते, जीवन न पर की आस से ॥
जिनके निकट सिंहादि पशु भी, भूल जाते क्रूरता ।
उन दिव्य गुरुओं की अहो! कैसी अलौकिक शूरता ॥

मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थ-रचना करने की प्रतिज्ञा

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम् ।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥१॥
अन्वयार्थ : जो वीर जिनेंद्र लक्ष्मीके निवासस्थानस्वरूप हैं तथा जिनका पाप कर्म नष्ट हो चुका है उन्हें हृदय में धारण करके मैं भव्य जीवों को मोक्ष प्राप्ति के निमित्तभूत आत्मानुशासन अर्थात् आत्मस्वरूप की शिक्षा देने वाले इस ग्रंथ को कहूंगा ॥१॥

पापनाशक और सुखदायक उपदेश

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥२॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू दुख से अत्यन्त डरता है और सुख की इच्छा करता है, इसलिये मैं भी तेरे लिये अभीष्ट उसी तत्त्व का प्रतिपादन करता हूं जो कि तेरे दुःख को नष्ट करके सुख को करनेवाला है ॥२॥

कटु उपदेश से भी भयभीत न होने की प्रेरणा

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित् ।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥३॥
अन्वयार्थ : यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जानेवाला कुछ सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोडा सा कडुआ (दुःखदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकारक) ही होगा। इसलिये हे आत्मन् ! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधि से नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं ॥

सच्चे उपदेशों की दुर्लभता

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥४॥
अन्वयार्थ : जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर

से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं ॥४॥

उपदेशदाता वक्ता का स्वरूप

प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रू याद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥५॥

अन्वयार्थ : जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करनेवाली प्रज्ञा से सहित है, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुका है, लोकव्यवहार से परिचित है, अर्थलाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित है, नवीन नवीन कल्पना की शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करने के पूर्व में ही वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की सम्भावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करनेवाला है अर्थात् न तो उनसे घबडाता है और न उतेजित ही होता है, श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके (श्रोताओं के) मन को आकर्षित करनेवाला अथवा उनके मनोगत भाव को जाननेवाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है; ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों को निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है॥५॥

उपदेशदाता वक्ता का स्वरूप

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोध ने
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तन सद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा
यतिपति गुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥६॥

अन्वयार्थ : जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है; जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व काय की प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्षमार्ग के प्रचाररूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कार आदि करता है, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोकमर्यादा का जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोकसम्बन्धी इच्छाओं से रहित है, तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान हैं; वही हेयोपादेय-विवेकज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है ॥६॥

सच्चे श्रोता का स्वरूप

भव्य: किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतवान्।
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विवार्य स्फुटम् ।
धर्म शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं
गृण्हन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥७॥

अन्वयार्थ : जो भव्य है; मेरे लिये हितकारक मार्ग कौनसा है, इसका विचार करनेवाला है; दुख से अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषी है, श्रवण आदिरूप बुद्धिविभव से सम्पन्न है, तथा उपदेश को सुनकर और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध ऐसे सुखकारक दयामय धर्म को ग्रहण करनेवाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकारी माना गया है ॥७॥

धर्माचरण की प्रेरणा

पापाद् दुःखं धर्मात् सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पावं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥८॥

अन्वयार्थ : पाप से दुख और धर्म से सुख होता है, यह बात सब जनों में भले प्रकार प्रसिद्ध है-इसे सब ही जानते हैं। इसलिये जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करता है उसे पाप को छोडकर निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिये॥८॥

आप्त की उपासना की प्रेरणा

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृतात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥९॥

अन्वयार्थ : सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, वह सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर होती है, वह कर्मों का क्षय भी सम्यक् चारित्र के निमित्त से होता है, वह सम्यक्चारित्र भी सम्यग्ज्ञान के अधीन है, वह सम्यग्ज्ञान भी आगम से प्राप्त होता है, वह आगम भी द्वादशांगरूप श्रुत के सुनने से होता है, वह द्वादशांग श्रुत भी आप्त से आविर्भूत होता है, आप्त भी वही हो सकता है जो समस्त दोषों से रहित है, तथा वे दोष भी रागादिस्वरूप हैं। इसलिये सुख के मूल कारणभूत आप्त का (देव का) युक्ति (परीक्षा) पूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य बाह्य एवं अभ्यन्तर लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण सुख देनेवाले उसी आप्त का आश्रय करें॥९॥

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और भेद-प्रभेद

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्य पोढं सदा
संवेगादिविवर्धितं भवहरं व्यज्ञानशुद्धिप्रदम् ।
निश्चिन्वन् नव सप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥१०॥

अन्वयार्थ : तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का; औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का; तथा आगे कहे जानेवाले आज्ञासम्यक्त्व आदि के भेद से दस प्रकार का भी है। मूढता आदि (3 मूढता, 8 मद, 6 अनायतन और 8 शंका-कांक्षा आदि) दोषों से रहित होकर संवेग आदि गुणों से वृद्धि को प्राप्त हुआ वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) निरन्तर संसार का नाशक; कुमति, कुश्रुत एवं विभंग इन तीन मिथ्याज्ञानों की शुद्धि (समीचीनता) का कारण; तथा जीवाजीवादि सात अथवा इनके साथ पुण्य और पाप को लेकर नौ तत्त्वों का निश्चय करानेवाला है। वह सम्यग्दर्शन स्थिर मोक्षरूप भवन के ऊपर चढने वाले बुद्धिमान् शिष्यों के लिये प्रथम सीढीके समान है। इसीलिये इसे चार आराधनाओं में प्रथम आराधनास्वरूप कहा जाता है ॥१०॥

सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेद

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥११॥

अन्वयार्थ : वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ और परमावगाढ; इस प्रकारसे दस प्रकारका है ॥११॥

आज्ञा मार्ग और उपदेश सम्यक्त्व का स्वरूप

आज्ञा सम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोप जाता
या सज्ञानागमाब्धि प्रसुतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से हो जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है। दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थश्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्ष मार्ग का श्रद्धान होता है उसे मार्गसम्यग्दर्शन कहते हैं। त्रेसठ शलाकापुरुषों के पुराण (वृत्तान्त) के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धान) उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाले आगमरूप समुद्र में प्रवीण गणधर देवादि ने उपदेश सम्यग्दर्शन कहा है ॥१२॥

सूत्र, बीज और संक्षेप सम्यक्त्व का स्वरूप

आकर्ण्याचारसूत्रम् मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाब्दीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३॥

अन्वयार्थ : मुनि के चरित्र (सकलचरित्र) के अनुष्ठान को सूचित करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम सूत्र सम्यग्दर्शन कहा गया है। जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। जो भव्य जीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्वश्रद्धानं (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शनको संक्षेपसम्यग्दर्शन कहा जाता है ॥१३॥

विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व का स्वरूप

यः श्रुत्वा द्वादशाङगी कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तार दृष्टिम्
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टि:।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव बारह अंगोंको सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है उसे विस्तार सम्यग्दर्शन से युक्त जानो, अर्थात् द्वादशांग के सुनने से जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यग्दर्शन कहते हैं। अंगबाह्य आगमों के पढने के बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है अर्थसम्यग्दर्शन कहलाता है। अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में रुचि होती है वह यहां परमावगाढसम्यग्दर्शन इस नाम से प्रसिद्ध है ॥१४॥

सम्यग्दर्शन से ही मंदकषाय, शास्त्रज्ञान, चारित्र और तप की पूज्यता

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

अन्वयार्थ : पुरुष के सम्यक्त्व से रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्त्व पत्थर के भारीपन के समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्त्व यदि सम्यक्त्व से सहित है तो वह मूल्यवान् मणि के महत्व के समान पूजनीय है॥१५॥

सुकुमार (सरल) क्रिया करने का उपदेश

मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य ।
बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥१६॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्वरूप रोग से सहित होकर हित की प्राप्ति और अहित के परिहार को न समझ सकने वाले बालक के समान तेरे लिये यह सम्यक्त्वआराधनारूप सरल चिकित्सा की जाती है ॥१६॥

अणुव्रत ग्रहण करने की प्रेरणा

विषयविषभाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।

निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाधुपक्रमः श्रेयान् ॥१७॥

अन्वयार्थ : विषयरूप विषम भोजन से उत्पन्न हुए मोहरूप ज्वर के निमित्त से जो तीव्र तृष्णा (विषयाकांक्षा और प्यास) से सहित है तथा जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिये प्रायः पेय (पीने के योग्य सुपाच्य फलों का रस आदि तथा अणुव्रत आदि) आदि की चिकित्सा अधिक श्रेष्ठ होगी॥१७॥

संसार के सभी प्राणियों को धर्म करने का उपदेश

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः ।

सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥१८॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो और चाहे दुख का, किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्थाओं में तेरा एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये । कारण यह है कि वह धर्म यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख की वृद्धि का कारण होगा, और यदि तू दुख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुख के विनाश का कारण होगा॥१८॥

विषय सुख भोगते हुए भी धर्म की रक्षा करने की प्रेरणा

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि ।

संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियविषयों के सेवन से उत्पन्न होने वाले सब सुख इस धर्मरूप उद्यान में स्थित वृक्षों (क्षमा-मार्दवादि) के ही फल हैं । इसलिये हे भव्य जीव ! तू जिन किन्हीं उपायों से उन धर्मरूप उद्यान के वृक्षों की भले प्रकार रक्षा करके उनसे उपर्युक्त इन्द्रियविषयजन्य सुखों रूप फलों का संचय कर ॥१९॥

धर्माचरण से सुख भंग होने के भय का निराकरण

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य ।

तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूधर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

अन्वयार्थ : धर्म सुख का कारण है और कारण कुछ अपने कार्य का विरोधी होता नहीं है। इसलिये तू सुखनाश के भय से धर्म से विमुख न हो॥२०॥

कृषक के उदाहरण से धर्म रक्षा की प्रेरणा

धर्मादवाप्तविभवो धर्म प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।

बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव॥२१॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार किसान बीज से उत्पन्न धान्य (गेहूं व चावल आदि) को प्राप्त करता हुआ उसमें से भविष्य के लिये कुछ बीज के निमित्त सुरक्षित रखकर ही उसका उपभोग करता है उसी प्रकार हे भव्य जीव ! तूने जो यह सुख-सम्पत्ति प्राप्त की है वह धर्म के ही निमित्त से प्राप्त की है, इसलिये तू भी उक्त सुखसम्पत्ति के बीजभूत उस धर्म का रक्षण करके ही उसका उपभोग कर ॥२१॥

धर्म का फल बिना मांगे ही

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।

असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

अन्वयार्थ : कल्पवृक्ष का फल संकल्प (प्रार्थना) के अनुसार प्राप्त होता है तथा चिन्तामणि का भी फल चिन्ता (मनकृत विचार) के अनुसार प्राप्त होता है, परन्तु धर्म से जो फल प्राप्त होता है वह अप्रार्थित एवं अचिन्त्य ही प्राप्त होता है ॥२२॥

आत्मा के परिणामों से ही पुण्यऔर पाप की उत्पत्ति

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।

तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

अन्वयार्थ : विद्वान् मनुष्य निश्चय से आत्मपरिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण बतलाते हैं। इसलिये अपने निर्मल परिणाम के द्वारा पूर्वसंचित पाप की निर्जरा, नवीन पाप का निरोध और पुण्य का उपार्जन करना चाहिये॥२३॥

धर्म संचय न करनेवालों की निन्दा

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात् ।

आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृण्हन्ति ते पापाः॥२४॥

अन्वयार्थ : जो प्राणी अज्ञानता से धर्म को नष्ट करके विषयसुखों का अनुभव करते हैं वे पापी वृक्षों को जड से उखाडकर फलों को ग्रहण करना चाहते हैं ॥२४॥

विषय सुख भोगते हुए भी धर्मोपार्जन सम्भव है

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतेः स्मरणचरणवचनेषु ।

यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥२५॥

अन्वयार्थ : जो धर्म मन से स्मरण, शरीर के द्वारा आचरण तथा वचनकृत उपदेश को विषय करनेवाले कर्तृत्व (कृत), हेतुकर्तृत्व (प्रेरणा-कारित) और अनुमोदन के द्वारा सब प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है उस धर्म का संग्रह कैसे नहीं करना चाहिये ? अर्थात् सब प्रकारसे उसका संग्रह अवश्य करना चाहिये॥२५॥

धर्म का फल

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स ताव

द्धन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन् ।

दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां

रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥२६॥

अन्वयार्थ : देखो, जब तक वह धर्म मन में अतिशय निवास करता है तब तक प्राणी अपने मारने वाले का भी घात नहीं करता है। और जब वह धर्म मन में से निकल जाता है तब पिता और पुत्र का भी परस्पर में घात देखा जाता है। इसलिये इस विश्व की रक्षा उस धर्म के रहने पर ही हो सकती है ॥२६॥

धर्म का घात करने से पाप होता है

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात् ।

नाजीर्णम् मिष्टान्नान्नु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥२७॥

अन्वयार्थ : पाप सुख के अनुभव से नहीं होता है, किन्तु वह उपर्युक्त धर्म के हेतुभूत अहिंसा आदि को नष्ट करने वाले प्राणिवधादि के आरम्भ से होता है । ठीक ही है- अजीर्ण कुछ मिष्टान्न के खाने से नहीं होता है, किन्तु वह निश्चय से उसके प्रमाण के अतिक्रमण से ही होता है ॥२७॥

शिकारादि कार्य प्रत्यक्ष दुःख के कारण

अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं

पापराचरितं पुरातिमयदं सौख्याय संकल्पतः ।

संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनैः

धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवाँल्लोकद्वयश्रेयसि॥२८॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीव ! जो शिकार आदि व्यसन प्रत्यक्ष में ही दुख के स्थानभूत हैं, जिनमें पापी जीव ही प्रवृत्त होते हैं, तथा जो परभव में दुखदायक होने से अतिशय भयानक हैं; वे भी यदि संकल्प मात्र से तेरे सुख के लिये हो सकते हैं तो फिर विवेकी जन इन्द्रियसुख को न छोडकर जिस धर्मयुक्त आचरण को करते हैं तथा जो दोनों ही लोकों में कल्याणकारक है उस धर्ममय आचरण में तू उक्त संकल्प को क्यों नहीं करता है ? अर्थात् उसमें ही तुझे सुख की कल्पना करना चाहिये ॥२८॥

शिकार आदि में आसक्ति अत्यन्त निर्दयता

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तकाः।

दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा॥२९॥

अन्वयार्थ : जिन हिरणियों का शरीर सदा भय से कांपता रहता है, जिनका वन में कोई रक्षक नहीं है, जो किसी का अपराध (अनिष्ट) नहीं करती हैं, जिनके एक मात्र अपने शरीर को छोडकर दूसरा कोई धन नहीं है, तथा जो दांतो के बीच में अटके हुए तृणों को धारण करती हैं; ऐसी हिरणियों का भी घात करने से जब शिकारी जन नहीं चूकते हैं तब भला दूसरे (सापराध) प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है ? अर्थात् उनका घात तो वे करेंगे ही ॥२९॥

झूठ और चोरी के त्याग की प्रेरणा

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात।

लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयश:सुखायार्थम् ॥३०॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीव ! तू परनिन्दा दीनता, छल-कपट, चोरी और असत्य भाषण आदि पापों को छोडकर उनके प्रतिपक्षभूत सत्यसंभाषण एवं अचौर्य व्रतों को-जो दोनों ही लोक में हितकारक हैं- धारण कर। कारण कि ये सबके लिये धर्म, धान, कीर्ति और सुख के कारणभूत हैं ॥३०॥

पुण्यशालियों को उपसर्ग भी दुःखदायक नहीं

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि

नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।

संतापयञ्जगदशेषमशीतरश्मिः

पद्मेषु पश्य विदधात्रि विकाशलक्ष्मीम्॥३१॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीव ! तू पुण्य कार्य को कर, क्योंकि पुण्यवान् प्राणी के ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता है। इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये सम्पत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसार को संतप्त करने वाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है ॥३१॥

पुण्योदय बिना पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं

नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः

स्वर्गो दुर्यमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः ।

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे

तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥३२॥

अन्वयार्थ : जिसका मंत्री बृहस्पति था, शस्त्र वज्र था, सैनिक देव थे, दुर्ग (किला) स्वर्ग था, हाथी ऐरावण था, तथा जिसके ऊपर विष्णु का अनुग्रह (सहायता) था; इसप्रकार अद्भुत बल से संयुक्त भी वह इन्द्र युद्ध में दैत्यों (अथवा रावण आदि) द्वारा पराजित हुआ है । इसीलिये यह स्पष्ट है कि निश्चय से दैव (भाग्य) ही प्राणी का रक्षक है। पुरुषार्थ व्यर्थ है, उसके लिये बारम्बार धिक्कार हो ॥३२॥

हिंसादिक के त्यागी सत्पुरुष आज भी हैं

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ॥३३॥

अन्वयार्थ : जो स्वयं मोह को छोडकर कुलपर्वतों के समान पृथिवी का उद्धार करने वाले हैं, जो समुद्रों के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं, तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पृष्ट न होकर विश्व की विश्रान्ति के कारण हैं; ऐसे अपूर्व गुणों के धारक पुरातन मुनियों के निकट में रहने वाले वे कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं ॥३३॥

लौकिक जीवों की मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम् ।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यमममुम् ॥३४॥

अन्वयार्थ : पिता पुत्र को तथा पुत्र पिता को धोखा देकर प्रायः वे दोनों ही मोह के वश होकर अल्प सुखवाले राजा के पद (सम्पत्ति) को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं । परन्तु आश्चर्य है कि मरण और जन्मरूप दाढों के बीच में प्राप्त हुआ यह मूर्ख प्राणी निरन्तर शरीर को नष्ट करनेवाले उस उद्यत यम को नहीं देखता है ॥३४॥

विषयान्ध पुरुष की दुर्दशा का वर्णन

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५॥

अन्वयार्थ : जिसके नेत्र इन्द्रियविषयों के द्वारा अन्धे कर दिये गये हैं अर्थात् विषयों में मुग्ध रहने से जिसकी विवेकबुद्धि नष्ट हो चुकी है ऐसा यह प्राणी उस लोकप्रसिद्ध अन्धे से भी अधिक अन्धा है, क्योंकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षु के ही द्वारा नहीं जान पाता है, परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियों और मन आदि में से किसी के द्वारा भी वस्तुस्वरूप को नहीं जान पाता है ॥३५॥

विषयाभिलाषा की व्यर्थता

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥

अन्वयार्थ : आशारूप वह गड्ढा प्रत्येक प्राणी के भीतर स्थित है जिसमें कि विश्व परमाणु के बराबर प्रतीत होता है । फिर उसमें किसके लिये क्या और कितना आ सकता है ? अर्थात् प्रायः नहीं के समान ही कुछ आ सकता है। अतएव हे भव्यजीवों ! तुम्हारी उन विषयों की अभिलाषा व्यर्थ है॥३६॥

पुण्योपार्जन की प्रेरणा

आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं
स्यात् सर्व न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि ।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥३७॥

अन्वयार्थ : यदि पूर्व में प्राप्त किया हुआ पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीर आदि भी यथेच्छित प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु यदि वह पुण्य

नहीं है तो फिर अपने को क्लेशित करने पर भी वह सब (इष्ट आयु आदि) बिल्कुल भी नहीं प्राप्त हो सकता है। इसीलिये योग्यायोग्य कार्य का विचार करने वाले श्रेष्ठ जन भले प्रकार विचार करके इस लोक सम्बन्धी कार्य के विषय में विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं, किन्तु आगामी भवों को सुन्दर बनाने के लिये ही वे निरन्तर प्रीतिपूर्वक अतिशय प्रयत्न करते हैं ॥३७॥

विषयों का स्वाद अत्यन्त कटु

कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना
यानम्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम् ।
आज्ञातं करणैर्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्
कष्टं रागरसैः सुधीत्स्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः ॥३८॥

अन्वयार्थ : कडुए विष के सदृश संताप उत्पन्न करने वाले उन विषयों में वह कौन-सा स्वाद (आनन्द) है कि जिसके निमित्त से उक्त विषयों को खोजने के लिये दुखी होकर तूने अपने स्वाभिमान (आत्मगौरव) रूप अमृत को मलिन कर डाला है ? अरे, मुझे निश्चय हो चुका है कि तू विद्वान् होकर भी पित्तज्वर से पीडित मनुष्य की तरह मन की दूती के समान होकर विषयों में आनन्द मानने वाली इन्द्रियों के द्वारा विपरीत स्वादवाला कर दिया गया है ॥३८॥

तृष्णा की विकरालता

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत् ।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत् ॥३९॥

अन्वयार्थ : तृष्णा की निवृत्ति से रहित अर्थात् अधिक तृष्णा से युक्त होकर भी तेरे मुख से जो सब जगत् अवशिष्ट बचा है वह तेरी भोगने की शक्ति न रहने से ही शेष रहा है। जैसे- राहु के मुख से शेष रहे सूर्य और चंद्र ॥३९॥

परिग्रह त्याग की प्रेरणा

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुनः
तत्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम् ।
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान गृहीत्वापि ते
मा भूभौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥४०॥

अन्वयार्थ : जिस किसी प्रकार से संसार के सारभूत साम्राज्य (सार्वभौम राज्य) को चिरकाल में प्राप्त करके भी यदि चक्रवर्ती उसे छोडने के पश्चात् ही अविनश्वर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त हुए हैं तो फिर तुम त्यागने के योग्य उन परिग्रहों (विषयों) को ग्रहण करने के पहिले ही छोड दो । इससे तुम परिव्राजक के लड्डू के समान विषयों का सम्पादन करके हंसी के पात्र न बन सकोगे ॥४०॥

गृहस्थाश्रम के त्याग की प्रेरणा

सर्व धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥४१॥

अन्वयार्थ : गृहस्थाश्रम विद्वज्जनों के भी चरित्र को प्रायः किसी सामायिक आदि शुभ कार्य में पूर्णतया धर्मरूप, किसी विषयभोगादिरूप कार्य में पूर्णतया पापरूप तथा किसी जिनगृहादि के निर्मापणादिरूप कार्य में उभय (पुण्य-पाप) रूप करता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धे के रस्सी भांजने के समान, अथवा हाथी के स्नान के समान अथवा शराबी या पागल की प्रवृत्ति के समान सर्वथा हितकारक नहीं है ॥४१॥

गृहस्थाश्रम में होनेवाले निरर्थक क्लेशों का वर्णन

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया ॥४२॥

अन्वयार्थ : तुम यहां सुख को प्राप्त करने की आशा से भूमि को जोतकर और बीज बोकर के अर्थात् खेती करके, राजाओं की सेवा करके अर्थात् दासकर्म करके, तथा बहुत बार वन में और समुद्र में परिभ्रमण करके अर्थात् व्यापार करके बहुत काल से क्यों कष्ट सह रहे हो? खेद है कि तुम अज्ञानता से यह जो कष्ट सह रहे हो उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि तुम बालु में तेल की खोज कर रहे हो अथवा विषभक्षण से जीने की इच्छा कर रहे हो। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार बालु में तेल की प्राप्ति असम्भव है अथवा विष के भक्षण से जीवित रहना असम्भव है उसी प्रकार उक्त कृषि आदि के द्वारा यथार्थ सुख का प्राप्त होना भी असम्भव है। हे भव्य ! क्या तुझे यह ज्ञात नहीं है कि तेरा वह अभीष्ट सुख निश्चयतः आशा (विषयाभिलाषा) रूप पिशाची के नष्ट करने से ही प्राप्त हो सकता है ? ॥४२॥

आशारूपी अनि से दग्ध व्यक्ति की चेष्टा

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः ।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखधर्मापनोदिनः ॥४३॥

अन्वयार्थ : खेद है कि अज्ञानी प्राणी आशारूप अग्नि से व्याप्त भोगोपभोग वस्तुओं रूप ऊंचे वांसों से उत्पन्न हुई सुख की छाया (सुखाभास = दुख) को प्राप्त करके दुखरूप सन्ताप को दूर करना चाहते हैं॥४३॥

पुण्योदय के बिना कार्यसिद्धि नहीं

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा
भयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छात्सुतुच्छं किल ।
क्षारं वायुदगात्तदप्युपहतं पूतिकृमिश्रेणिभिः
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्ट विधेश्चेष्टितम् ॥४४॥

अन्वयार्थ : निकट में जलप्राप्ति की इच्छा से भूमि को खोदने पर चट्टान प्राप्त हुई। तब प्रारम्भ किये हुए इस कार्य का -निर्वाह करते हुए उसने पाताल पर्यन्त खोदकर उस चट्टान को तोड दिया । तत्पश्चात् वहां बडे कष्ट से कुछ थोडा-सा जो खारा जल प्रगट हुआ वह भी दुर्गन्धयुक्त और क्षुद्र कीडों के समूह से व्याप्त था। इसको भी जब वह पीने लगा तब वह भी शीघ्र सूख गया । खेद है कि दैव की लीला विचित्र है ॥४४॥

न्यायोपार्जित धन से कभी सम्पदा नहीं बढ़ती

शुद्धैर्धनैविवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥४५॥

अन्वयार्थ : शुद्ध धन के द्वारा सज्जनों की भी सम्पत्तियां विशेष नहीं बढ़ती हैं ! ठीक है- नदियां शुद्ध जल से कभी भी परिपूर्ण नहीं होती हैं ॥४५॥

धर्म, सुख, ज्ञान और गति का स्वरूप

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः॥४६॥

अन्वयार्थ : धर्म वह है जिसके होने पर अधर्म न हो, सुख वह है जिसके होने पर दुख न हो, ज्ञान वह है जिसके होने पर अज्ञान न रहे,

तथा गति वह है जिसके होने पर आगमन न हो ॥४६॥

धनोपार्जन छोड़कर धर्म-साधन की प्रेरणा

वार्तादिभिर्विषयलोल विचारशून्यम्
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्यपरिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टितं यदि सकृत्परलोकबुद्धया
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥४७॥

अन्वयार्थ : हे विषयलम्पट ! तू यहां विषयों में मुग्ध होकर विवेक से रहित होता हुआ जो खेती, पशुपालन एवं व्यापार आदि के द्वारा धन कमाने के लिये बार बार कष्ट सहता है वैसी कष्टमय प्रवृत्ति (तपश्चरणादि) परलोक की बुद्धि से अर्थात् आगामी भव को सुखमय बनाने के लिये यदि एक बार भी करता तो फिर निश्चय से बार बार जन्म-मरण आदि के दुःखको न प्राप्त करता ॥४७॥

बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के त्याग की प्रेरणा

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ।
अन्तःशान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुर
ज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥४८॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को न जानकर 'यह इष्ट है और यह अनिष्ट है' इस प्रकार मानता हुआ बाह्य वस्तुओं (स्त्री पुत्र एवं धन आदि) में आसक्त होकर व्यर्थ में ही क्यों बार बार समय को बिताता है ? जब तक तू प्राप्त हुए निर्दय काल (मरण) की प्रगट ज्वालाओं से भयानक औदार्य अग्नि के मुख में पडकर भस्मसात् नहीं होता है तबतक राग-द्वेषादि के परिहारस्वरूप आन्तरिक शान्ति को प्राप्त कर ले॥४८॥

आशारूपी नदी के पार होने की प्रेरणा

आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः
कि नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥४९॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू पराधीन बनकर तृष्णारूपी नदी से प्रेरित होता हुआ बहुत दूर आ गया है। क्या तू यह नहीं जानता है कि निश्चय से इस तृष्णारूप नदी को पार करने के लिये तू ही अतिशय समर्थ है ? अतएव तू स्वतन्त्रता का अनुभव कर जिससे कि शीघ्र ही उस तृष्णानदी के किनारे जा पहुंचे । यदि तू ऐसा नहीं करता है तो फिर उस विषयतृष्णारूप नदी के प्रवाह में बहकर दुर्दम यमरूप मगर के खुले हुए गम्भीर मुख से भयानक ऐसे संसाररूप समुद्र के मध्य में जा पहुंचेगा ॥४९॥

विषयाभिलाषा से व्याकुल जीव की चेष्टा

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै स्तद्भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्वं यथा
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद् दुराशामिमा
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्ती हरेत् ॥५०॥

अन्वयार्थ : जिन स्त्री आदि भोगों को विषयी जनों ने भोग करके अनुराग के हट जाने से छोड दिया है उनको (उच्छिष्ट को) तू घृणा से रहित होकर फिर से भी इस प्रकार से भोगने की इच्छा करता है जैसे कि मानों वे कभी पूर्व में प्राप्त ही न हुए हो। हे क्षुद्रप्राणी ! जब तक तू पापसमूहरूप वीर शत्रु की सेना की फहराती हुई ध्वजा के समान इस दुष्ट विषयतृष्णा को नष्ट नहीं कर देता है तब तक क्या तुझे शान्ति प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ॥५०॥

आशा के वशीभूत जीव का अविवेक

भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वान्जिघांसुर्मुधा।
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

अन्वयार्थ : जो स्वर्गादिरूप आगामी भव भोगी जनों के लिये विषम हैं, अर्थात् जो विषयी जनों को कभी नहीं प्राप्त हो सकते हैं, उनको कष्ट करके जो अज्ञानी प्राणी सर्प के समान भयंकर उन भोगों के भोगने की अतिशय इच्छा करता है वह भय और दया से रहित होकर स्वयं मर करके भी व्यर्थ में दूसरों को मारने की इच्छा करता है । जिस जिस निकृष्ट कार्य की साधु जनों ने निन्दा की है, धिक्कार है कि वह दुर्बुद्धि उसी कार्य को चाहता है। ठीक है- जिनका मन काम और क्रोध आदिरूप महाग्रहों से पीडित है वे प्राणी कौन कौन-सा निन्द्य कार्य नहीं करते हैं ? अर्थात् सब ही निन्द्य कार्य को वे करते हैं ॥५१॥

जगत की क्षणभंगुरता

श्वो यस्यानि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम् ।
भ्रातर्भान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्षणोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥

अन्वयार्थ : जो दिन जिस वस्तु के लिये कल (आगामी दिन) था वह उसके लिये कल (बीता हुआ दिन) हो जाता है। यहां कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, यह सब संसार कालरूप वायु से परिवर्तित किया जानेवाला है। हे भ्रात ! क्या तुम भ्रम को छोडकर आखों से प्रत्यक्ष नहीं देखते हो, जिससे कि इन नश्वर बाह्य वस्तुओं के विषय में ही बार बार इच्छा करके बहुत काल से परिभ्रमण करते हो? ॥५२॥

वर्तमान दु:खों का वर्णन

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेप्युद्वेगकारिण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।
तत्तावत्स्मर सस्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धन॥५३॥

अन्वयार्थ : जो संसार स्मरण मात्र से भी अतिशय संताप को उत्पन्न करनेवाला है उसके भीतर नरकादि दुर्गतियों में पडकर तूने जिन दुःखोंको सहन किया है वे तो यों ही रहें, अर्थात् उन परोक्ष दुःखों की चर्चा करना तो व्यर्थ है। किन्तु हे भव्य ! धन से रहित तूने काम के शस्त्रों (बाणों) के समान स्त्रियों के कामोत्पादक मन्द हास्ययुक्त तीक्ष्ण कटाक्षों से बिद्ध होकर बर्फ से जले हुए कोमल वृक्ष के समान जो दुःख प्राप्त किया है उसका तो भला स्मरण कर ॥५३॥

आत्म कल्याण की प्रेरणा

उत्पन्नोऽस्यसि दोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान्
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्योऽसि जन्मिन् वृथा
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

अन्वयार्थ : हे बार बार जन्म को धारण करनेवाले प्राणी! तू उत्पन्न हुआ है; वात-पित्तादि दोषों, रस-रुधिरादि सात धातुओं एवं मल-मूत्रादि से सहित शरीर का धारक है; क्रोधादि कषायों से सहित है; आधि (मानसिक पीडा) और व्याधि (शारीरिक पीडा) से पीडित है, दुश्चरित्र है, अपने आप को धोका देनेवाला है, मृत्यु के द्वारा फैलाये गये मुख के मध्य में स्थित अर्थात् मरणोन्मुख है, तथा जरा (बुढापा) का ग्रास बनने वाला है। फिर ये अज्ञानी प्राणी! यह समझ में नहीं आता कि तू उन्मत्त होकर अपने ही हित का शत्रु (घातक) होता हुआ

उन अहितकारक विषयों की अभिलाषा क्यों करता है? ॥५४॥

तृष्णा से उत्पन्न दुःख का वर्णन

उग्रग्रीष्मकठोरधर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षयत् क्लिश्यते॥५५॥

अन्वयार्थ : तीक्ष्ण ग्रीष्म काल के कठोर सूर्य की दैदीप्यमान किरणों की प्रभा के समान संताप को उत्पन्न करने वाली समस्त इन्द्रियों से संतप्त होकर यह प्राणी वृद्धिंगत विषयतृष्णा से युक्त होता हुआ विवेक को नष्ट कर देता है और फिर इसीलिये अभीष्ट विषयों को प्राप्त करने के लिये वह पापाचार में प्रवृत्त होकर व्याकुल होता है। परंतु जब उसे वे अभीष्ट विषय नहीं प्राप्त होते हैं तब वह इस प्रकार से क्लेश को प्राप्त होता है जिस प्रकार कि प्यास से पीडित होकर पानी के निकट अगाध कीचड में फंसा हुआ निर्बल बैल क्लेश को प्राप्त होता है ॥ ५५॥

मोहरूपी अग्नि की विशेषता

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः ।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः॥५६॥

अन्वयार्थ : अग्नि इन्धन को पाकर जलती है और उससे रहित होकर बुझ जाती है। परंतु आश्चर्य है कि तीव्र मोहरूपी अग्नि दोनों भी प्रकार से ऊंची (अतिशय) जलती है ॥५६॥

मोह-निद्रा का वर्णन

किं मर्माभ्यभिनन्न भीकरतरो दुःकर्मगर्मुद्गजः
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम् ।
किं गर्जद्यमतूरभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयं
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥५७॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! क्या अत्यन्त भयानक पापकर्मरूपी मधुमक्खियों के समूह ने इस प्राणी के मर्म को नहीं विदीर्ण किया है ? अवश्य किया है। क्या दुखरूप अग्नि की ज्वालाओं से इसका शरीर चिर काल से नहीं व्याप्त किया गया है ? अवश्य किया गया है । क्या इसने गरजते हुए यम (मृत्यु) के बाजों के भयानक शब्दों को नहीं सुना है ? अवश्य सुना है। फिर क्या कारण है जो यह प्राणी निश्चय से दुखोत्पादक उस मोहनिर्मित निद्रा (अज्ञान) को नहीं छोड़ रहा है ॥५७॥

मोह-निद्रा के वश हुए प्राणी की दशा

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुःकर्मणो
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम् ।
निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वग्मृतिश्च ध्रुवं
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत् ॥५८॥

अन्वयार्थ : हे जन्म लेने वाले प्राणी! इस जन्म-मरणरूप संसार में तेरा शरीर के साथ तादात्म्य है अर्थात् तू उत्तरोत्तर धारण किये जाने वाले शरीरों के भीतर स्थित होकर सदा उनके अधीन रहता है, तू निरन्तर पाप कर्म के फल स्वरूप दुख का अनुभव करता है, प्रत्येक समय में जो तेरा ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों से स्वयं बन्धन (सम्बन्ध) होता है वही तेरा व्यापार है, निद्रा जो है वही तेरा विश्राम है; तथा मरण से तुझे सदा भय रहता है, परन्तु वह निश्चय से आता अवश्य है । फिर आश्चर्य यही है कि ऐसी दुखमय अवस्था के होने पर भी तू उसी संसार के भीतर रमण करता है ॥५८॥

शरीर की बन्दीगृह से तुलना

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि

श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः कर्मारातिभिरायुरुद्धनिगलालग्नं शरीरालयं

कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

अन्वयार्थ : हे नष्टबुद्धि प्राणी! हड्डियोंरूप स्थूल लकडियों के समूह से रचित, सिराओं और नसों से सम्बद्ध, चमडा से ढका हुआ, रुधिर एवं सघन मांस से लिप्त, दुष्ट कर्मोरूप शत्रुओं से रक्षित, तथा आयुरूप भारी सांकल से संलग्न; ऐसे इस शरीररूप गृह को तू अपना कारागार (बन्दीगृह) समझकर उसके विषय में व्यर्थ अनुराग मत कर॥५९॥

घर-कुटुम्ब आदि का स्वरूप

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं

चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्

त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥६०॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजीवों ! जिसे तुम शरण (गृह) मानते हो वह तुम्हारा शरण (रक्षक) नहीं है, जो बन्धुजन हैं वे राग-द्वेष के निमित्त होने से बन्ध के कारण हैं, दीर्घ कालसे परिचय में आई हुई स्त्री आपत्तियोंरूप गृहों के द्वार के समान है, तथा जो पुत्र हैं वे अतिशय रागद्वेष के कारण होने से शत्रु के समान हैं; ऐसा विचार कर यदि आप लोगों को सुख की अभिलाषा है तो इन सबको छोडकर निर्मल धर्म की आराधना करें॥६०॥

समभाव धारण करने की प्रेरणा

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशग्निसंधुक्षणैः

संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः।

किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा

देहिन् याहि सुखाय ते सममग्नुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

अन्वयार्थ : हे शरीरधारी प्राणी ! इन्धन के समान तृष्णारूप अग्नि को प्रज्वलित करने वाले धन से यहां तुझे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। पाप के कारणभूत सम्बधियों (नातेदारों) एवं अन्य बंधुओं (भ्राता आदि) के साथ संबंध रखने से तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं। मोहरूप सर्प के दीर्घ बिल (बांवी) के समान शरीर अथवा गृह से भी तुझे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं । ऐसा विचार कर हे भव्य जीव! तू सुख के निमित्त उस तृष्णा की शांति को प्राप्त हो,इसमें व्यर्थ प्रमाद न कर ॥६१॥

लक्ष्मी की अस्थिरता

आदावेव महावलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं

रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता।

लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति

प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काशा नृणाम् ॥६२॥

अन्वयार्थ : जो राजाओं की लक्ष्मी सर्वप्रथम महाबलवान् मंत्री और सेनापति आदि के द्वारा स्वयं पट्टबन्ध के रूप में निश्चलता से बांधी जाती है,जो रक्षाधिकारी (पहारेदार) पुरुषों के हाथों में स्थित खड्गसमूह से वेष्टित की जाती है,तथा जो सैनिक पुरुषों के द्वारा रक्षित रहती है,वह दीपक की लौ के समान अस्थिर राजलक्ष्मी भी ढुराये जाने वाले चामरों के पवन से ताडित हुई के समान जब देखते ही देखते नष्ट हो जाती है तब भला अन्य साधारण मनुष्यों की लक्ष्मी की स्थिरता के विषय में क्या आशा की जा सकती है? अर्थात् नहीं की जा सकती है॥६२॥

शरीर की नश्वरता

दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि॥६३॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! जिसके दोनों अग्रभाग अग्नि से जल रहे हैं ऐसी एरण्ड (अण्डा) को लकडी के भीतर स्थित कीडे के समान और मृत्यु से व्याप्त शरीर में स्थित होकर तू दुख पा रहा है, यह खेद की बात है ॥६३॥

विषयों के त्याग की प्रेरणा

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृहयन् ।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ॥६४॥

अन्वयार्थ : हे भव्यप्राणी ! तू नेत्रादि इन्द्रियोंरूप स्वामी से अथवा नेत्रादि इन्द्रियों के स्वामीस्वरूप मन से प्रेरित दास के समान होकर संक्लेशयुक्त होता हुआ रूपादिरूप समस्त विषयों को प्राप्त करने के लिये हीनाचरणों के द्वारा क्यों अतिशय पापों को बढाता है और खेदखिन्न होता है ? तू उन इन्द्रियों को ही अपना दास बनाकर संक्लेश से रहित होता हुआ उन रूपादि समस्त विषयों को छोड दे और जितेन्द्रिय होकर अपनी आत्मा को प्रसन्न कर । इससे तू सदाचरणों के द्वारा पाप से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ समीचीन सुख का अनुभव कर सकता है ॥६४॥

परिग्रह रहित यती ही महासुखी

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेकः सुखी सुखी॥६५॥
परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम् ।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः ॥६६॥

अन्वयार्थ : धनाभिलाषी निर्धन मनुष्य तो धन को न पाकर दुखी होते हैं और धनवान् मनुष्य सन्तोष के न रहने से दुखी होते हैं। इस प्रकार खेद है कि सब ही (धनी और निर्धन भी) प्राणी दुख का अनुभव करते हैं। यदि कोई सुखी है तो केवल एक सन्तोषी (तृष्णा से रहित) मुनि ही सुखी है । धनवानों का सुख पराधीन है। उस पराधीन सुख की अपेक्षा तो आत्माधीन दुख अर्थात् अपनी इच्छानुसार किये गये अनशन आदि के द्वारा होनेवाला दुख ही अच्छा है । कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर तपश्चरण करनेवाले साधुजन 'सुखी' इस नाम से युक्त कैसे हो सकते थे? अर्थात नहीं हो सकते थे ॥६५-६६॥

मुनियों के गुणों की प्रशंसा

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहायैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन्
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः ॥६७॥

अन्वयार्थ : साधु जनों का जो यह स्वतन्त्रतापूर्वक विहार (गमनागमन प्रवृत्ति), दीनता (याचना) से रहित भोजन, गुणी जनों की संगति, शास्त्रस्वाध्यायजनित परिश्रम के फलस्वरूप रागादि की उपशान्ति, तथा बाह्य पर पदार्थों में मन्द प्रवृत्तिवाला मन है; वह सब कौन-से महान तप का परिणाम है, इसे मैं बहुत काल से अतिशय विचार करने पर भी नहीं जानता हूं ॥67॥

मुनियों के गुणों की प्रशंसा

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः ॥६८॥

अन्वयार्थ : इसके अतिरिक्त विषयों का अनुपम त्याग, श्रुत का अभ्यास, उत्कृष्ट दया,निरन्तर एकान्तरूप अन्धकार के विस्तार को नष्ट करने वाली बुद्धि, तथा अन्त में आगमोक्त विधि से अनशन तप का आचरण अर्थात् आहार के परित्यागपूर्वक समाधिमरण; यह सब महात्माओं की प्रवृत्ति किसी थोडे-से तप के अनुष्ठान का फल नहीं है, किन्तु महान् तप का ही वह फल है ॥६८॥

शरीर का विनाश निश्चित

उपायक्रोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोऽन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥६९॥

अन्वयार्थ : करोडों उपायों को करके भी जिस शरीर का रक्षण न स्वयं किया जा सकता है और अन्य किसी के द्वारा कराया जा सकता है, किन्तु जो सब प्रकार से नष्ट ही होनेवाला है, उस शरीर की रक्षा के विषय में तेरा कौन-सा आग्रह है ? अर्थात् जब किसी भी प्रकार से उक्त शरीर की रक्षा नहीं की जा सकती है तब हठपूर्वक सब प्रकार से उसकी रक्षा का प्रयत्न करना निरर्थक है ॥६९॥

इस नश्वर आयु और शरीरादिकों के द्वारा अविनश्वर पद प्राप्त किया जा सकता है

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधायातमवैहि ते ॥७०॥

अन्वयार्थ : इसलिये यदि अवश्य नष्ट होने वाले इन आयु और शरीर आदिकों के द्वारा तुझे अविनश्वर पद (मोक्ष) प्राप्त होता है तो तू उसे अनायास ही आया समझ ॥७०॥

आयु की क्षणभंगुरता

गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासैरभ्यस्यतज संततम् ।
लोकः पृथग (गि)तो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम् ॥७१॥

अन्वयार्थ : यह जीव निरंतर उच्छवास और निःश्वासों के द्वारा जाने का अभ्यास करता है। परंतु अज्ञानी जन उन उच्छ्वास और निःश्वासों के द्वारा आत्मा को अजर-अमर अर्थात् जरा और मरण से रहित मानता है ॥७१॥

आयु की क्षणभंगुरता

मलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं
खलः कायोऽप्यायुर्गतिमनुपतत्येव सततम् ।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वमयमिदं जीवितमिह
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥७२॥

अन्वयार्थ : यह आयु प्रायः अरहट की घटिकाओं में स्थित जल के समान प्रतिसमय क्षीण हो रही है तथा यह दुष्ट शरीर भी निरंतर उस आयु की गति (नश्वरता) का अनुकरण कर रहा है। फिर भला इस प्राणी का अपने से भिन्न अन्य स्त्री एवं पुत्र-मित्रादि से क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। कारण यह कि यहां इन दोनों (आयु और शरीर) स्वरूप ही तो यह जीवित है । फिर भी अविवेकी प्राणी नाव में स्थित मनुष्य के समान भ्रम से अपने को स्थिरशील मानता है॥७२॥

श्वास की उत्पत्ति में ही दुःख

उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद् दुःखमेषोऽत्र जीवितम् ।

तद्विरामो भवेन्मृत्युर्नृणां भणं कुतः सुखम् ॥७३॥

अन्वयार्थ : उच्छवास कष्ट से उत्पन्न होने के कारण दुखरूप है और यह उच्छ्वास ही यहां जीवन तथा उसका विनाश ही मरण है । फिर बतलाईये कि मनुष्यों को सुख कहां से हो सकता है? नहीं हो सकता है ॥७३॥

संसार में जीवन बहुत थोड़ा

जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥७४॥

अन्वयार्थ : जन्मरूप ताड के वृक्ष से नीचे गिरे हुए प्राणीरूप फल मृत्युरूप पृथिवीतल को न प्राप्त होकर अन्तस्तल में कितने काल रह सकते हैं ? ॥७४॥

अनेक प्रयत्नों के बाद भी मनुष्यों की रक्षा संभव नहीं

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनस्त्रिभिः
परिवृतमतः खेनाधस्तात्खलासुरनारकान् ।
उपरि दिविजान मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलंघ्यतमोऽन्तकः ॥७५॥

अन्वयार्थ : विधि (ब्रह्मा या कर्म) रूप मंत्री ने इस लोक में नीचे दुष्ट असुरकुमार देवों और नारकियों को तथा ऊपर वैमानिक देवों को करके मध्य में मनुष्यों को स्थापित किया और उनके निवास भूत उस मनुष्यलोक को असंख्यात पृथिवीस्वरूप द्वीपों और समुद्रों से वेष्टित किया। उनके भी बाहिर तीन (घनवातवलय, अम्बुवातवलय, और तनुवातवलय) वातवलयों से तथा उनके भी आगे उसे आकाश से वेष्टित किया। इतने पर भी न तो वह विधिरूप मंत्री ही उन मनुष्यों की रक्षा कर पाता है और न चक्रवर्ती आदि भी। कारण यह कि लोक में अतिशय दुर्गम एक वह यम (मृत्यु) ही है ॥७५॥

काल से अधिक बलवान कोई नहीं

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम् ।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरः
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥७६॥

अन्वयार्थ : जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीर से रहित है, तथा जो पाप से मलिन अर्थात् काला है वह दुष्ट राहु निश्चय से प्रकाशमान एक हजार किरणों रूप हाथों से लोक को व्याप्त करने वाले प्रतापी सूर्य को कवलित करता है; यह बडे खेद की बात है । ठीक है- समयानुसार कर्म का उदय आने पर दूसरा कौन बलवान् है ? आयु के पूर्ण होने पर ऐसा कोई भी बलिष्ठ प्राणी नहीं है जो मृत्यु से बच सके ॥७६॥

काल द्वारा प्राणियों को मारने की विधि

उत्पाद्य मोहमदविव्हलमेव विश्वं
वेधाः स्वयं गतघृणष्ठकवद्यथेष्टम् ।
संसारभीकरमहागहनान्तराले
हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥

अन्वयार्थ : कर्मरूप ब्रह्मा समस्त विश्व को ही मोहरूप शराब से मूर्छित करके तत्पश्चात् स्वयं ही ठग (चोर-डाक) के समान निर्दय बनकर इच्छानुसार संसाररूप भयानक महावन के मध्य में उसका घात करता है। उससे रक्षा करने के लिये भला यहां दूसरा कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥७७॥

यमराज का आकस्मिक आगमन

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः ।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥७८॥

अन्वयार्थ : जिस काल के विषय में कब वह आता है, कैसे आता है, कहां से आता है, और कहां पर आता है; इस प्रकार का विचार नहीं किया जा सकता है वह दुष्ट काल प्राप्त तो होता ही है । फिर हे विद्वानों ! आप निश्चिन्त क्यों बैठे हैं ? अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कीजिये । अभिप्राय यह है कि प्राणी के मरण का न तो कोई समय ही नियत है और न स्थान भी। अतएव विवेकी जन को सदा सावधान रहकर आत्महित में प्रवृत्त रहना चाहिये ॥७८॥

मरण से रहित कोई नहीं

असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कंचन ।
देशं कालं विधिम् हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः ॥७९॥

अन्वयार्थ : मृत्यु से सम्बन्ध न रखने वाले किसी एक देश को, काल को, विधान को और कारण को देखकर प्राणी निश्चिन्त हो जावें॥७९॥

स्त्री शरीर से प्रीति छोड़ने की प्रेरणा

अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा
मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदमपाकरोत् ।
कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥८०॥

अन्वयार्थ : जिस स्त्री के शरीर को अज्ञानी जन दुर्लभ मानते हैं उस स्त्री के शरीर में हे भव्य ! तू किसलिये अनुरक्त हो रहा है ? वह स्त्री का शरीर पुण्य (सुख) को भस्मीभूत करने के लिये अग्नि की ज्वालाओं के समूह के समान होकर नरक के दुःखों को प्राप्त करने के लिये खुले हुए महा भयानक द्वार के समान है । तथा जिस स्त्री शरीर को तूने वस्त्राभरणादि से अलंकृत कर बार बार उपकृत किया है उसने क्या तेरा प्रतिकूल आचरण करके अपकार नहीं किया है ? अर्थात् अवश्य किया है । अतएव ऐसे कृतघ्न स्त्री के शरीर में अनुराग करना उचित नहीं है ॥८०॥

मनुष्य पर्याय की काने गन्ने से तुलना

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं
विष्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिता द्युग्रामयश्छिद्रितम् ।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं पुनः
निःसारं परलोकबीजमचिरात्कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

अन्वयार्थ : आपत्तियों रूप पोरों से निर्मित, अन्त में नीरस, मूल में भी उपभोग के अयोग्य तथा सब ओर से भूख, क्षतपात (घाव), कोढ और दुर्गन्ध आदि तीव्र रोगों से छेद युक्त की गई ऐसी यह मनुष्य पर्याय धुनों (लकडी के कीडों) से खाये हुए गन्ने के समान केवल नाम से ही रमणीय है । हे भव्य! तू इस निःसार मनुष्य पर्याय को शीघ्र यहां परभव का बीज (साधन) करके सारयुक्त कर ले ॥८१॥

आयु की अनिश्चितता

प्रसुप्तो मरणाशंकां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयन्नेष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥८२॥

अन्वयार्थ : जब प्राणी सोता तब वह मृतवत् होकर मरने की आशंका उत्पन्न करता है और जब जागृत रहता है तब जीने के उत्सव को करता है। इस प्रकार प्रतिदिन आचरण करने वाला यह प्राणी कितने काल तक उस शरीर में रह सकेगा ? अर्थात् बहुत ही थोडे समय तक

रह सकता है, पश्चात् उस शरीर को छोडना ही पडेगा ॥८२॥

कुटुम्बीजन हितकारी नहीं

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य

माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम् ।

एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्

संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥८३॥

अन्वयार्थ : हे प्राणी ! यदि तूने संसार में भाई-बन्धु आदि कुटुम्बी जनों से कुछ भी हितकर बंधुत्व का कार्य प्राप्त किया है तो उसे सत्य बतला । उनका केवल इतना ही कार्य है कि मर जाने के पश्चात् वे एकत्रित होकर तेरे अहितकारक शरीर को जला देते हैं ॥८३॥

विवाहादि में सहायक बन्धुजन ही वास्तविक शत्रु

जन्मसंतानसंपादिविवाहादिविधायिनः ।

स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥८४॥

अन्वयार्थ : जो कुटुम्बी जन जन्म-परंपरा (संसार) को बढाने वाले विवाहादि कार्य को करते हैं वे इस जीव के शत्रु हैं, दूसरे जो एक ही बार प्राणों का अपहरण करने वाले हैं वे यथार्थ में शत्रु नहीं हैं॥८४॥

तृष्णारूपी अग्नि में जलने पर शांति की भ्रान्ति

धनरन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने ।

ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संघक्षणक्षणे ॥८५॥

अन्वयार्थ : आशा (विषयतृष्णा) रूप अग्नि में धनरूप इन्धन के समूह को डालकर भ्रान्ति को प्राप्त हुआ प्राणी उस जलती हुई आशारूप अग्नि को जलने के समय में शान्त मानता है ॥८५॥

बाल सफेद होने का यथार्थ आशय

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शद्धिरेव तव बद्धे: ।

कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥८६॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! बालों को धवलता के मिषसे तेरी बुद्धि की निर्मलता ही शरीर से निकलती जा रही है। ऐसी अवस्था में बिचारा वृद्ध उस समय परभव में हित करने वाले कार्यों का कैसे स्मरण कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है ॥८६॥

संसार-समुद्र का स्वरूप

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुरन् नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।

मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे

मोहग्राहविदारितास्यविवराद्दूरे चरा दुर्लभाः ॥८७॥

अन्वयार्थ : जो संसाररूप भयानक समुद्र मनोहर पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले असन्तोषजनक सुखरूप खारे जल से परिपूर्ण है, जिसका भीतरी भाग अनेक प्रकार के मानसिक दुखों रूप बडवानल की ज्वालाओं से जल रहा है; तथा जो मरण, जन्म एवं वृद्धत्वरूप लहरों से चंचल है; उस भयानक संसार-समुद्र में जो विवेकी प्राणी मोहरूप हिंस्र जलजन्तुओं (मगर आदि) के फाडे हुए मुखरूप बिल से दूर रहते हैं वे दुर्लभ हैं ॥८७॥

ज्ञान-ज्योतिवन्त जीव धन्य हैं

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्ये:

श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम् ।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते ॥८८॥

अन्वयार्थ : निरन्तर प्राप्त होने वाली सुख-सामग्री से पालित और यौवन के मध्य में सुन्दर स्त्रियों के चंचल एवं रमणीय नेत्रों रूप कमलों से पूजित अर्थात् देखा गया ऐसा वह तेरा शरीर विवेकज्ञान के प्राप्त होने पर यदि जले हुए वन में हिरणियों के द्वारा स्थलकमलिनी की आशंका से देखा जाता है तो तू धन्य है- प्रशंसा के योग्य है ॥८८॥

बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में धर्म की दुर्लभता

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने ।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि
र्वार्द्धिक्येऽर्धमृतः क्व जन्म फलि ते धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९॥

अन्वयार्थ : प्राणी बाल्यावस्था में शरीर के पुष्ट न होने से कुछ भी हित-अहित को नहीं जानता है । यौवन अवस्था में काम से अन्धा होकर स्त्रियों रूप वृक्षों से सघन उस यौवनरूप वन में विचरता है, इसलिये यहाँ भी वह हिताहित को नहीं जानता है । मध्यम (अधेड) अवस्था में पशु के समान अज्ञानी होकर बढी हुई तृष्णा को शान्त करने के लिये खेती व वाणिज्य आदि के द्वारा धन के कमाने में तत्पर रहकर खिन्न होता है,अतः इस समय भी हिताहित को नहीं जानता है तथा वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर वह अधमरे के समान होकर शरीर से शिथिल हो जाता है, इसलिये यहां भी हिताहित का विवेक नहीं रहता है। ऐसी दशा में हे भव्यजीव ! कौन-सी अवस्था में धर्म का आचरण करके तू अपने जन्म को सफल कर सकता है ? ॥८९॥

बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में कर्म जनित दुःख

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नास्ति यत्नापितः ।
वार्द्धिक्येऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाउछत्यहो दुर्मते ॥९०॥

अन्वयार्थ : हे दुर्बुद्धि प्राणी! इस विधि (कर्म) ने बाल्यकाल में जो तेरा अहित किया है उसका स्मरण करना भी योग्य नहीं है । मध्यम अवस्था में भी ऐसा कोई दुख नहीं है जिसे कि उसने धनोपार्जन आदि कष्टप्रद कार्यों के द्वारा तुझे न प्राप्त कराया हो। वृद्धावस्था में भी उसने तुझे तिरस्कृत करके निर्दयतापूर्वक दांत तोड देने आदि का प्रयत्न किया है। फिर देख तो सही कि तेरा इतना अहित करने पर भी आज भी तू उक्त कर्म के ही वशीभूत होकर प्रवृत्ति करने की इच्छा करता है ॥९०॥

वृद्धावस्था से आत्महित की प्रेरणा

अश्रोत्रीव तिरस्कृतापरतिरस्कारश्रुतीनां श्रुतिः
चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम् । भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तमवनेऽप्यासे (स्से) जराजर्जरे ॥९१॥

अन्वयार्थ : हे वृद्ध ! तेरे कान दूसरों के निन्दावाक्यों को नहीं सुनने की इच्छा से ही मानो तिरस्कृत अर्थात् नष्ट हो गये- बहरे हो गये । नेत्र मानो तेरी घृणित अवस्था को देखने में असमर्थ होकर ही अन्धेपन को प्राप्त हो गये हैं । यह शरीर भी तेरे सन्मुख आने वाले यम (मृत्यु) से मानो भयभीत हो करके ही अतिशय कांप रहा है। फिर भी आश्चर्य है कि तू जलते हुए घर के समान उस वृद्धत्व से शिथिल हुए शरीर में निश्चल रह रहा है॥९१॥

विषयी जीवों को युक्तिपूर्वक उपालम्भ

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः।

तं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥९२॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त परिचित वस्तु में अनादरबुद्धि और नवीन में प्रेम होता है, यह जो किंवदन्ती (प्रसिद्धि) है उसे तू दोषों में आसक्त तथा गुणों में अनुराग रहित होकर क्यों असत्य करता है ? ॥९२॥

व्यसनी को हिताहित का अभाव

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि

नो संगतं दिनविकासि सरोजमित्थम् ।

नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव

प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः ॥९३॥

अन्वयार्थ : कमल को हंस नहीं खाते हैं, वह जल में उत्पन्न होकर भी उससे चूंकि संगत नहीं होता है अतएव कठोर है, तथा वह दिन में विकसित होकर रात्रि में मुकुलित हो जाता है। यह सब विचार भ्रमर नहीं करता है। इसलिये वह उसकी गन्ध में आसक्त होता हुआ रात्रि में उसके संकुचित हो जाने पर उसीके भीतर मरण को प्राप्त होता है । ठीक है- व्यसनी जन को अपने हिताहित का विचार नहीं रहता है ॥ ९३॥

बुद्धिमानों का प्रमादी होना शोचनीय

प्रजैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने ।

तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥९४॥

अन्वयार्थ : प्रथम तो हिताहित का विचार करनेरूप बुद्धि ही दुर्लभ है, फिर वह परभव के हित का विवेक तो और भी दुर्लभ है। उस विवेक को प्राप्त करके भी जो जीव प्रमाद करते हैं वे बुद्धिमानों के लिये सोचनीय होते हैं ॥९४॥

ज्ञानियों का राजादिक का दास होना विचारणीय

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाताः

तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्ध ।

शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या

स्तेषां बुधाश्च बत किंकरस्तां प्रयान्ति ॥९५॥

अन्वयार्थ : जिस विधि (पुण्य) से पृथिवी के ऊपर लोक के अधिपति राजा हुए हैं उस विधि के सर्व जनों में प्रसिद्ध होने पर भी यही खेद की बात है कि जो विशिष्ट पराक्रमी और विद्वान हैं वे भी उक्त राजा लोगों की दासता को प्राप्त होते हैं-सेवा करते हैं ॥९५॥

धर्म प्राप्ति का विधान

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः।

प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै ।

भूयांस्तस्य भुजङगदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो

व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्यसाक्षात्कृतः ॥९६॥

अन्वयार्थ : जो पर्वत बडे बडे बांसों को धारण करते हैं, जिनका अन्त बुद्धि से ही जाना सकता है, तथा जो उंचाईरूप धन को धारण करने वाले हैं; ऐसे वे पर्वत जिस प्रदेश (निधानस्थान) में शोभा के निमित्त स्थित हैं वह उत्कृष्ट प्रदेश है । उसका लंबा मार्ग सर्पों से अत्यन्त दुर्गम और दिशाओं से रहित अर्थात् दिग्भ्रम को उत्पन्न करने वाला है। इसीलिये हे आर्य ! उसके विषय में महापुरुषों के लिए स्पष्ट

बतलाना अयोग्य है । वह सर्वार्य नाम के द्वितीय मंत्री के द्वारा प्रत्यक्ष में देखा गया है । प्रकृत श्लोक का यह एक अर्थ उदाहरण स्वरूप है । दूसरा मुख्य अर्थ उसका इस प्रकार है- प्रदेश शब्द का अर्थ यहां धर्म है, क्योंकि 'प्रदिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति प्रदेशः' अर्थात् दूसरों के लिये जिसका उपदेश किया जाता है वह प्रदेश (धर्म) है, ऐसी उसकी निरुक्ति हैं। जिस धर्म के होने पर इक्ष्वाकु आदि उत्तम वंश को धारण करने वाले (कुलीन), बुद्धि के पारगामी (अतिशय विद्वान) तथा गुणों से उन्नत होकर धन के धारक ऐसे राजा लो ग अन्य जनोंके द्वारा लक्ष्मी प्राप्ति के निमित्त शिर से धारण किये जाते हैं वह धर्म उत्कृष्ट है । उस धर्म का मार्ग (उपाय) दान-संयमादि के भेद से अनेक प्रकार का है जो आशा (विषयवांछा) से रहित होता हुआ भुजंगी-कामी जनों के लिये दुर्लभ है। इस कारण महापुरुषों के लिये उसका स्पष्टतया व्याख्यान करना अशक्य है । वह धर्म सर्वार्य अर्थात् सबों से पूजने योग्य सर्वज्ञ के द्वारा प्रत्यक्ष में देखा गया है ॥९६॥

यतियों का पर-हित के प्रति अनुराग

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इदं दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते
यतिर्याताख्यानै: परहितरर्ति पश्य महतः ॥९७॥

अन्वयार्थ : जो शरीर सब प्रकार से अपवित्र और बहुत दुःखों को उत्पन्न करने वाला है ऐसे इस शरीर में रहने वाला प्राणी उससे विरक्त नहीं होता है, बल्कि वह उक्त शरीर को देख करके भी उससे अधिक प्रीति नहीं करता हो सो बात नहीं, किन्तु अधिक ही प्रीति करता है । उसको हितैषी मुनि श्रेष्ठ उपदेशों के द्वारा इस अपवित्र शरीर से विरक्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। ऐसे महापुरुषों का दूसरों के हितविषयक अनुराग देखने योग्य है-प्रशंसनीय है ॥९७॥

शरीर : समस्त आपदाओं का स्थान

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥९८॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! यह शरीर ऐसा है और वैसा है, इस प्रकार बहुत कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? तूने स्वयं ही इस संसार में उसे अनेक बार भोगा है और छोडा है । संक्षेप में संग्रहरूप से तुझे यही उपदेश दिया है कि यह प्राणियों का शरीर सब दुःखों का घर है॥९८॥

गर्भावस्था के दुःख

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमिताद्विभेषि ॥९९॥

अन्वयार्थ : यह प्राणी गर्भावस्था में कर्म के अधीन होकर चिर काल तक माता के पेटरूप विष्ठागृह (संडास) में स्थित रहता है और वहां भूख-प्यास से पीडित होकर बढी हुई तृष्णा से माता के द्वारा खाये हुए भोजन (उच्छिष्ट) की मुंह खोलकर प्रतीक्षा किया करता है। वहां वह स्थान के संकुचित होने से हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों को हिला-डुला नहीं सकता है तथा उदरस्थ कीडों के साथ रहकर जन्म के कष्ट से भयभीत होता है। हे जन्म लेने वाले प्राणी ! तू जो मरण से डरता है सो मैं ऐसा समझता हूं कि वह मरण चूंकि अगले जन्म का कारण है, इसीलिये मानो उस मरण से डरता है, क्योंकि जन्म का कष्ट तुझे अनुभव में आ ही चुका है ॥९९॥

अज्ञानी की मूर्खता

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा ।
यदत्र किंचित्सुखरूपमाप्यते तदार्य विद्धयन्धकवर्तकीयम् ॥१००॥

अन्वयार्थ : हे आर्य ! तूने इस (सम्यग्दर्शनयुक्त) भव से पहिले संसार में हेय और उपादेय के विचार में मूढ होकर अजाकृपाणीय के समान कार्य किया है। यहां जो कुछ सुखरूप सामग्री प्राप्त होती है वह अन्धक-वर्तकीय न्याय से ही प्राप्त होती है ॥१००॥

कामजन्य वेदना

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि ।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते
दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥१०१॥

अन्वयार्थ : बडे खेद की बात है कि जो अपने को पण्डित समझते हैं उनको भी यह अतिशय क्रोधी कामदेव (विषयवांछा) असमय में ही इष्ट स्त्रियों के द्वारा खण्डित करता है। फिर भी देखो यह आश्चर्य की बात है कि वे उसे (कामकृत खण्डन को) भी धीरतापूर्वक सहन करते हैं, किन्तु तपरूप अग्नि के द्वारा उस काम को जलाने के लिये उत्साह को नहीं करते हैं ॥१०१॥

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट त्याग के उदाहरण

आर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमारत्यागिनः ॥१०२॥

अन्वयार्थ : कोई विद्वान् मनुष्य विषयों को तृण के समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) को याचकों के लिये दे देता है; दूसरा कोई विवेकी जीव उक्त लक्ष्मी को पाप का कारण और असन्तोषजनक जानकर किसी दूसरे के लिये नहीं देता है, किन्तु उसे यों ही छोड़ देता है । तीसरा कोई महाविवेकी जीव उसको पहिले ही अहितकारक मानकर ग्रहण नहीं करता है । इस प्रकार वे ये त्यागी उत्तरोत्तर त्याग की उत्कृष्टता के जाननेवाले हैं- उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त हैं ॥१०२॥

विरक्ति होने पर सम्पत्ति के त्याग में क्या आश्चर्य ?

विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

अन्वयार्थ : यदि सज्जन पुरुष विरक्त हो करके उन सम्पत्तियों को छोड देते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कुछ भी नहीं । ठीक ही है- जिस पुरुष को घृणा उत्पन्न हुई है वह क्या भले प्रकार खाये गये भोजन का भी वमन (उलटी) नहीं करता है ? अर्थात् करता ही है ॥१०३॥

लक्ष्मी का त्याग होने पर विभिन्न परिणामवाले त्यागी

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम् ।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ : मूर्ख पुरुष लक्ष्मी को छोडता हुआ शोक करता है, तथा पुरुषार्थी मनुष्य उस लक्ष्मी को छोडता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्त्व का जानकार उसके परित्याग में न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है ॥१०४॥

शरीर से मोह-त्याग की प्रेरणा

विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं मुधाप्येतत्क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम् ।

बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ : गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त यह जो समस्त शरीरसम्बन्धित आचरण है वह व्यर्थ में प्रचुर क्लेश, अपवित्रता, भय और तिरस्कार आदि से परिपूर्ण हैं; ऐसा जानकर विद्वानों को उसका परित्याग करना चाहिये । उसके त्याग से यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर वह कौन-सा मूर्ख है जो दुष्ट जन की संगति के समान उसे छोडने के लिये समर्थ न हो? अर्थात् विवेकी प्राणी उसे छोडते ही हैं ॥१०५॥

रागादि छोड़ने की प्रेरणा

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं
स्वयापि भूयो जननादिलक्षणम् ।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः
ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥१०६॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तूने बार बार मिथ्याज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों- सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्यजनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल- अजर-अमर पद- को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर ॥१०६॥

दया-दम आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा

दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रियदमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा । वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है ॥१०७॥

भेद-ज्ञान और वीतरागता की प्रेरणा

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव ।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥१०८॥

अन्वयार्थ : विवेकज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देती है ॥१०८॥

बाल-ब्रह्मचारियों की प्रशंसा

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम् ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥१०९॥

अन्वयार्थ : आश्चर्य है कि जिसने स्वयं न भोगते हुए त्याग करके अपने उच्छिष्टरूप विश्व का उपभोग कराया है उस बालब्रह्मचारी के लिये नमस्कार हो॥१०९॥

परमात्मा बनने का रहस्य

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥११०॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! तू 'मेरा कुछ भी नहीं है' ऐसी भावना के साथ स्थित हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी (मुक्त) हो जायगा । यह तुझे परमात्मा का रहस्य (स्वरूप) बतला दिया है जो केवल योगियों के द्वारा प्राप्त करने के योग्य या उनके ही अनुभव का विषय है ॥ ११०॥

तप करने की प्रेरणा

दुर्लभमशुद्धमासुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तसैव तत्तप: कार्यम् ॥१११॥

अन्वयार्थ : यह मनुष्य पर्याय दुर्लभ, अशुद्ध और सुख से रहित (दुखमय) है। मनुष्य अवस्था में मरण का समय नहीं जाना जा सकता है। तथा मनुष्य की पूर्वकोटि प्रमाण उत्कृष्ट आयु भी देवायु आदि की अपेक्षा स्तोक है । परन्तु तप इस मनुष्य पर्याय में ही किया जा सकता है और मुक्ति उस तप से ही प्राप्त की जाती है। इसलिये तप का आचरण करना चाहिये ॥१११॥

ध्यान तप का ध्येय और फल

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं
सम्यक्चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ॥११२॥

अन्वयार्थ : ध्यान में तीनों लोकों का स्वामी परमात्मा आराधना करने के योग्य है । इस प्रकार की प्रवृत्ति सज्जनों को अभीष्ट है। उसमें यदि कुछ कष्ट है तो केवल भगवान के चरणों का स्मरण ही है। उससे जो हानि भी होती है वह अनिष्ट कर्मों की ही हानि (नाश) होती है । उससे सिद्ध करने के योग्य मोक्षसुख है। उसमें काल भी कितना लगता है ? अर्थात् कुछ विशेष काल नहीं लगता- अन्तर्मुहूर्त मात्र ही लगता है । उसका साधन (कारण) मन है । अतएव हे विद्वानो! चित्त में उस परमात्मा का भले प्रकार विचार कीजिये, क्योंकि, उसके ध्यान में कष्ट ही क्या है ? कुछ भी नहीं है ॥११२॥

तप ही समस्त सिद्धियों का साधन है

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः ।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवः
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥११३॥

अन्वयार्थ : धनरूप वायु (तृष्णा) से मर्दित (संतप्त) प्राणियों को भला कौन-सा सुख हो सकता है ? कुछ भी नहीं । अर्थात् जो सुख तपश्चरण से प्राप्त होता है वह सुख धनाभिलाषी प्राणियों को कभी नहीं प्राप्त हो सकता है । उस तप के होते हुए क्या यह कामरूप दुष्ट व्याध (भील) किसी प्रकार का दुष्ट आचरण कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है । इसके अतिरिक्त उक्त तप के होने पर क्या तिरस्काररूप धूलि तपस्वी के चरण को भी छूने के लिये समर्थ हो सकती है ? नहीं हो सकती। हे भव्यप्राणियो! यदि तप से दूसरा कोई अभीष्ट सुख का साधक हो तो उसे बतलाओ। अभिप्राय यह कि यदि प्राणी के मनोरथ को कोई सिद्ध कर सकता है तो वह केवल तप ही है, उसको छोडकर दूसरा कोई भी प्राणी के मनोरथ को पूर्ण करने वाला नहीं है ॥११३॥

तप की महिमा

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति ।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी
नरो न रमते कयं तपसि तापसंहारिणि ॥११४॥

अन्वयार्थ : जिस तप के प्रभाव से प्राणी इस लोक में क्रोधादि कषायोंरूप स्वाभाविक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है तथा जिन गुणों को वह अपने प्राणों से भी अधिक चाहता है वे गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त उक्त तप के प्रभाव से परलोक में उसे मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि स्वयं ही शीघ्रता से प्राप्त होती है। इस प्रकार से जो तप प्राणियों के संताप को दूर करता है उसके विषय में

मनुष्य कैसे नहीं रमता है? अर्थात् रमना ही चाहिये ॥११४॥

समाधि में ध्यान को सुरक्षित रखने की प्रेरणा

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योर्जितफल:
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः
स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥११५॥

अन्वयार्थ : जिसका शरीर तपरूप बेलि के ऊपर पुण्यरूप महान् फल को उत्पन्न करके समयानुसार इस प्रकार से नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कि कच्चे फल के अग्रभाग से फूल नष्ट हो जाता है,तथा जिसकी आयु सन्यासरूप अग्नि में रक्षा करनेवाले जल के समान धर्म और शुक्ल ध्यानरूप समाधि की रक्षा करते हुए सूख जाती है वह धन्य है-प्रशंसनीय है ॥११५॥

तप करने में ज्ञान की महिमा

अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत्
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥११६॥

अन्वयार्थ : जिनके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुई है वे शरीर की रक्षा करके जो चिरकाल तक तपश्चरण करते हैं वह निश्चय से ज्ञान का ही प्रभाव है, ऐसा निश्चित प्रतीत होता है ॥११६॥

इस शरीर के साथ आधे क्षण भी रहना सह्य नहीं

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्य सहेत कः।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्वोधो निरोधकः ॥११७॥

अन्वयार्थ : यदि ज्ञान पोंचे (हथेली के ऊपर का भाग) को ग्रहण करके रोकनेवाले न होता तो कौन-सा विवेकी जीव उस शरीर के साथ आधे क्षण के लिये भी रहना सहन करता? अर्थात् नहीं करता ॥११७॥

परीषह सहने की प्रेरणा

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन् निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान् ।
किलाद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः ॥११८॥

अन्वयार्थ : जिन ॠषभ देव ने समस्त राज्य-वैभव को तृण के समान तुच्छ समझकर छोड दिया था और तपश्चरण को स्वीकार किया था वे भी निरभिमान होकर भूखे दरिद्र के समान भिक्षा के निमित्त स्वयं दूसरों के घरों पर घूमे । फिर भी उन्हें निरन्तराय आहार नहीं प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्हें छह मास घूमना पडा । फिर भला अन्य साधारण जनों या महापुरुषों को अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये यहां क्या (परीषह आदि) नहीं सहन करना चाहिये ? अर्थात् उसकी सिद्धि के लिये उन्हें सब कुछ सहन करना ही चाहिये ॥११८॥

विधि का विलास अलंघ्य है

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः ।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः ॥११९॥

अन्वयार्थ : जिस आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में आने के पूर्व छह महिने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोडे हुए सेवा में तत्पर रहा, जो

स्वयं ही सृष्टि की रचना करनेवाला था, अर्थात् जिसने कर्मभूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधनों से अपरिचित प्रजा के लिये आजीविकाविषयक शिक्षा दी थी, तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी (चक्रवर्ती) था; वह इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थंकर जैसा महापुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महिने तक पृथ्वी पर घूमा; यह आश्चर्यकी बात है । ठीक है- इस संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है ॥११९॥

संयमधारियों की महिमा

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।

पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥१२०॥

अन्वयार्थ : साधु पहिले दीपक के समान प्रकाशप्रधान होता है । तत्पश्चात वह सूर्य के समान ताप और प्रकाश दोनों से शोभायमान होता है ॥१२०॥

ज्ञानियों की दीपक से तुलना

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः ।

स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमत्कर्म (न् कर्म) कज्जलम् ॥१२१॥

अन्वयार्थ : वह बुद्धिमान् साधु दीपक के समान होकर ज्ञान और चारित्र से प्रकाशमान होता है। तब वह कर्मरूप काजल को उगलता हुआ स्व के साथ पर को प्रकाशित करता है ॥१२१॥

अशुभ और शुभ छोड़ने का क्रम

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात् ।

रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥१२२॥

अन्वयार्थ : यह आराधक भव्यजीव आगमज्ञान के प्रभाव से अशुभस्वरूप असंयम अवस्था से शुभरूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है । ठीक है- सूर्य जबतक सन्ध्या (प्रभातकाल) को नहीं प्राप्त होता है तबतक वह अन्धकार को नष्ट नहीं करता है ॥१२२॥

ज्ञानियों का तप और श्रुत के प्रति अनुराग कल्याणकारी है

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः ।

संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥

अन्वयार्थ : अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट कर देनेवाले प्राणी के जो तप और शास्त्रविषयक अनुराग होता है वह सूर्य को प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिये होता है ॥१२३॥

अशुभराग में दोष की अधिकता

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।

रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥१२४॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोडकर और अन्धकार को आगे करके जब राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है- अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करनेवाले ज्ञानरूप प्रकाश को छोडकर अज्ञान को स्वीकार करता हुआ राग (विषयवांछा) को प्राप्त होता है वह पातालतल को- नरकादि दुर्गति को- प्राप्त होता है ॥१२४॥

मोक्षमार्ग की यात्रा

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं

चारित्रं शिबिका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहुलश्छाया दयाभावना
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५॥

अन्वयार्थ : जिस यात्रा (गमन) में ज्ञान मार्गदर्शक है, लज्जा मित्र के समान सदा साथ में रहनेवाली है, तपरूप पाथेय (मार्ग में खाने योग्य भोजन) है, चारित्र शिविका (पालकी) है, निवेशस्थान (पडाव) स्वर्ग है, रक्षा करने वाले वीतरागता आदि गुण हैं, मार्ग (रत्नत्रयरूप) सरल (मन, वचन च काय की कुटिलता से रहित) एवं शान्तिरूप प्रचुर जल से परिपूर्ण है, तथा छाया दयाभावना है ; वह यात्रा उस मुनि को विघ्न-बाधाओं से रहित होकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त कराती है ॥१२५॥

स्त्रियों का महाविषमय स्वरूप

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटम् यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दम् दह्यते सर्वतः ।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मा स्म गाः ॥१२६॥

अन्वयार्थ : व्यवहारी जन जो सर्पों को दृष्टिविष कहते हैं वह असत्य हैं, क्योंकि,वह दृष्टिविषत्व तो उन स्त्रियों में स्पष्टतया देखा जाता है जिनके अर्धविलोकन रूप कटाक्षों के द्वारा ही संसार (प्राणी) सब ओर से अतिशय संतप्त होता है । हे साधो ! तू जो उनके विरुद्ध आचरण कर रहा है सो वे तेरे ही विषय में अतिशय क्रोध को प्राप्त होकर इधर उधर घूम रही हैं । वे स्त्री के रूप में केवल विष ही हैं। इसीलिये तू उनका विषय न बन॥१२६॥

स्त्रीरूपी सर्प के विष की औषधि नहीं

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचित्
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषब्युच्छिदः ।
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा
योगीन्द्रानपि तान् निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७॥

अन्वयार्थ : सर्प तो किसी विशेष समय में क्रोधित होते हुए केवल काटकर ही प्राणों का नाश करते हैं, तथा वर्तमान में उनके विष को नष्ट करनेवाली बहुत-सी औषधियां भी हैं । परंतु स्त्रीरूप सर्प क्रोधित होकर तथा प्रसन्न हो करके भी उन प्रसिद्ध महर्षियों को भी इस लोक में और पर लोक में भी बार बार मार सकती हैं । वे जिसकी ओर देखें उसका तथा जो उनकी ओर देखता है उसका भी-दोनों का ही-घात करती हैं तथा उनके विष को दूर करने वाली कोई औषधि भी नहीं हैं ॥१२७॥

मुक्ति-स्त्री से ही अनुराग की प्रेरण

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि ।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुतटं
तस्यामेव रतिम् तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! जो यह मुक्तिरूप सुन्दर महिला उत्तम नायिका है, कुलीन जनों को ही प्राप्त हो सकती है, विश्व की प्रियतमा है, तथा गुणों से प्रेम करनेवाली है; उसको प्राप्त करने की यदि तेरी इच्छा है तो तू उसको संस्कृत कर- रत्नत्रयरूप अलंकारों से विभूषित कर- और दूसरी (लोक प्रसिद्ध) स्त्री की बात भी न कर । केवल तू उसके विषय में ही अतिशय अनुराग कर; क्योंकि, स्त्रियां प्रायः ईर्ष्यालु होती हैं ॥१२८॥

नारी को सरोवर की उपमा

वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरैः

वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥१२९॥

अन्वयार्थ : वे स्त्रियां सरसी (छोटा तालाब) के समान बाहिर से ही रमणीय दिखती हैं- सरसी जिस प्रकार चंचल तरंगों से युक्त स्वच्छ जल एवं कमलों से सुशोभित होती है उसी प्रकार वे स्त्रियां भी तरंगों के समान चंचल (अस्थिर) सुख को उत्पन्न करने वाले हास्ययुक्त मनोहर वचनोंरूप जल से तथा मुखरूप कमलों से रमणीय होती हैं । जिस प्रकार बहुत-से बुद्धिहीन (मूर्ख) प्राणी प्यास से पीडित होकर सरोवर पर जाते हैं और किनारे पर ही भयानक हिंस्र जलजन्तुओं के ग्रास बनकर- उनके द्वारा मरण को प्राप्त होकर-फिर नहीं निकल पाते हैं उसी प्रकार बहुत-से अज्ञानी प्राणी भी विषयतृष्णा से व्याकुल होकर उन स्त्रियों के पास पहुंचते हैं और हिंस्र जलजन्तुओं के समान अतिशय भयानक विषयों से ग्रस्त होकर- उनमें अतिशय आसक्त होकर-फिर नहीं निकलते अर्थात् नरकादि दुर्गतियों में पडकर फिर उत्तम मनुष्यादि पर्याय को नहीं पाते हैं ॥१२९॥

नारी, काम द्वारा निर्मित घातस्थल है

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः ।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥१३०॥

अन्वयार्थ : अतिशय पापी, क्रूर एवं भय को उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियों रूप अहेरियों (शिकारियों) के द्वारा संसाररूप विधीत (मृग व सिंहादि के रहने का स्थान) के चारों ओर रागरूप अग्नि को जलाकर सब ओर से पीडा को प्राप्त कराये गये ये मनुष्यरूप हिरण रक्षा की इच्छा से व्याकुल होकर स्त्री के छल से बनाये गये कामरूप व्याधराज (अहेरियों का स्वामी) के घातस्थान (मरणस्थान) को प्राप्त होते हैं, यह खेद की बात है ॥१३०॥

नारी के प्रति आसक्ति में निर्लज्जता

अपत्रप तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि ।
वृथा व्रजसि किं रतिम् ननु न भीषयस्यातुरो
निसर्गतरलाः स्त्रियस्त्वदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥१३१॥

अन्वयार्थ : हे निर्लज्ज ! यह तेरा शरीर तपरूप अग्नि से अधजले शव (मृत शरीर) के समान भय और घृणा का स्थान बन रहा है । क्या तू उसे नहीं देखता है? फिर तू उत्सुक होकर व्यर्थ में क्यों स्त्रियों के विषय में अनुराग को प्राप्त होता है। ऐसे शरीर को धारण करता हुआ तू उन स्त्रियों के लिये भय को न उत्पन्न कराता हो सो बात नहीं है, किन्तु उन्हें निश्चय से भय को प्राप्त कराता ही है । संसार में स्त्रियां स्वभाव से ही कातर होती हैं । वे तेरे भयानक शरीर को देखकर स्पष्टतया भयभीत होती हैं॥१३१॥

काम सेवन में खेद

उत्तुङ्गसंगतकुचाचलदुर्गदूर
माराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम् ।
रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढाः
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ॥१३२॥

अन्वयार्थ : जो स्त्री की योनि ऊंचे एवं परस्पर मिले हुए स्तनोंरूप पर्वतीय दुर्ग से दुर्गम है, पास ही उदर में स्थित त्रिवलीरूप नदियों से जहां पहुंचना भयप्रद है, तथा जो रोमपंक्तिरूप इधर उधर भटकानेवाले मार्ग से संयुक्त हैं; ऐसी उस स्त्री की योनि को पाकर कौन-से

कामान्ध प्राणी यहां खेद को नहीं प्राप्त हुए हैं ? अर्थात् वे सभी दुख को प्राप्त हुए हैं ॥१३२॥

स्त्री की योनि का वीभत्सरूप

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य । प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्रमाहुर्बुधाः जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः॥१३३॥

अन्वयार्थ : सुन्दर दांतोंवाली स्त्री का यह जो जांघों के बीच में स्थित छिद्र है उसे पण्डित जन कामी पुरुषों के मल (वीर्य) का घर, कामदेव के शस्त्र का नाडीव्रण अर्थात् नस के ऊपर (उत्पन्न हुआ) घाव, दुर्गम मोक्षरूप पर्वत का ढका हुआ गड्ढा तथा कामरूप महासर्प का छिद्र (बांवी) बतलाते हैं ॥१३३॥

विषय-सुख का पोषण करनेवाले ठग

अध्यास्यापि तपोवनं बत परे नारीकटीकोटरे
व्याकृष्टा विषयै: पतन्ति करिणः कूटावपाते यया ।
प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥१३४॥

अन्वयार्थ : दूसरे मनुष्य तप के निमित्त वन का आश्रय ले करके भी इन्द्रियविषयों के द्वारा खीचे जाकर स्त्री के योनिस्थान में इस प्रकार से गिरते हैं जिस प्रकार कि हाथी अपने पकडने के लिये बनाये गये गड्ढे में गिरते हैं । जो योनिस्थान प्राणी के जन्म की भूमि होने से माता के समान है उसे जो दुष्ट कवि प्रीति का कारण बतलाते हैं वे स्पष्टतया अपने दुष्ट वचनों के द्वारा विश्व को ठगाते हैं॥१३४॥

नारी विष से भी अधिक भयानक है

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत् ।
सोऽपि दंदह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥१३५॥

अन्वयार्थ : जिस महादेव के कण्ठ में स्थित हो करके भी विष ने उसका कुछ भी अहित नहीं किया वही महादेव स्त्रियों के द्वारा संतप्त किया जाता है । ठीक है- स्त्रियां भयानक विष हैं ॥१३५॥

स्त्रियों को चन्द्रमा की उपमा देना उचित नहीं है

तव युवतिशरीरे सर्वदोदोषैकपात्रे
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत् ।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥१३६॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! सब दोषों के अद्वितीय स्थानभूत स्त्री के शरीर में यदि चन्द्र आदि पदार्थों के साधर्म्य (समानता) से तेरा अनुराग है तो फिर निर्मल और उत्तम इन्हीं (चन्द्रादि) पदार्थों के विषय में अनुराग करना श्रेष्ठ है। परन्तु कामरूप मद्य के मद (नशा) से अन्धे हुए प्राणी में प्रायः वह विवेक ही कहां होता है ? अर्थात् उसमें वह विवेक ही नहीं होता है ॥१३६॥

मन की नपुंसकता

प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ल्हादते ।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुमयथा पुमान् जीयते ॥१३७॥

अन्वयार्थ : जो मन प्रिया का अनुभव करते हुए केवल अधीर होता है उसे भोग नहीं सकता है, तथा जो दूसरे विषयी जनों को--इन्द्रियों को उसका भोग करते हुए देखकर भले प्रकार आनन्दित होता है, वह मन तो शब्द से और अर्थ से भी निश्चयतः नपुंसक है । फिर इस

नपुंसक मन के द्वारा जो सुधी (उत्तम बुद्धि का स्वामी) शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकार से पुरुष है वह कैसे जीता जाता है ? अर्थात् नहीं जीता जाना चाहिये था ॥१३७॥

तप की श्रेष्ठता

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यमत्रापि यस्मात्
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन् न लघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम् ।
राज्यात्तस्मात्प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥१३८॥

अन्वयार्थ : सुजनता (न्याय-नीति) से सहित राज्य और शास्त्रज्ञान से सहित महान तप, दोनो यहां पूज्य हैं। परन्तु इन दोनों में भी चूंकि राज्य को छोडकर तपश्चरण करने वाला मनुष्य लघु नहीं रहता- महान हो जाता है, और इसके विपरीत तप को छोडकर राज्य करने वाला मनुष्य अतिलघु- अतिशय निन्द्य- माना जाता है; इसीलिये राज्य की अपेक्षा तप अतिशय पूज्य है। इस प्रकार मन से विचार करके जो बुद्धिमान मनुष्य पाप से डरता है उसे, जो तप संसार के भय को नष्ट करने वाला एवं महान है उस समीचीन सम्पूर्ण तप को करना चाहिये॥ १३८॥

गुण हीनता से हानि होती है

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात्पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ॥१३९॥

अन्वयार्थ : जिन पुष्पों को पहिले देव भी शिरपर धारण करते हैं उनको पीछे पांव भी नहीं छूता है। ठीक ही है- गुण की हानि क्या नहीं करती है ? अर्थात् वह सब कुछ अनर्थ करती है ॥१३९॥

दोष का अंश भी निन्द्य है

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः ।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥१४०॥

अन्वयार्थ : हे चन्द्र ! तू मलिनतारूप दोष से सहित क्यों हुआ? यदि तुझे मलिनता से सहित ही होना था तो फिर पूर्णरूप से उस मलिनतास्वरूप ही क्यों नहीं हुआ? तेरी उस मलिनता को अतिशय प्रगट करने वाली चांदनी से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं । यदि तू सर्वथा मलिन हुआ होता तो वैसी अवस्थामें राहु के समान देखने में तो नहीं आता ॥१४०॥

दोष बतानेवाले दुर्जन भी हितकारी हैं

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
साधं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम् ।
तस्मान्मे न गुरुगुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥१४१॥

अन्वयार्थ : यदि यह गुरु शिष्य के उन किन्हीं दोषों को प्रवृत्ति कराने की इच्छा से अथवा अज्ञानता से आच्छादित करके-प्रकाशित न करके-चलता है और इस बीच में यदि वह शिष्य उक्त दोषों के साथ मरण को प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरु पीछे क्या कर सकता है? कुछ भी उसका भला नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषों को आच्छादित करनेवाला वह गुरु वास्तव में मेरा गुरु (हितैषी आचार्य) नहीं है। किन्तु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषों को निरन्तर सूक्ष्मता से देख करके और उन्हें अतिशय महान् बना करके स्पष्टता से कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है ॥१४१॥

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः ।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥१४२॥

अन्वयार्थ : कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित (आनन्दित) करते हैं जिस प्रकार कि सूर्य की कठोर (सन्तापजनक) भी किरणें कमल की कली को प्रफुल्लित किया करती हैं ॥१४२॥

धर्मात्माओं की दुर्लभता

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा ।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥१४३॥

अन्वयार्थ : पूर्व काल में जिस धर्म के आचरण से इस लोक और परलोक दोनों ही लोको में हित होता है उस धर्म का व्याख्यान करने के लिये तथा उसे सुनने के लिये भी बहुत से जन सरलता से उपलब्ध होते थे, परन्तु तदनुकूल आचरण करने के लिये उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे। किन्तु वर्तमान में तो उक्त धर्म का व्याख्यान करने के लिये और सुनने के लिये भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करने वाले तो दूर ही रहे ॥१४३॥

विवेकी जन प्रशंसा में सन्तुष्ट नहीं होते

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये ।
कृतं किमपि धाष्टर्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥१४४॥

अन्वयार्थ : जो गुण और दोष का विचार करने वाले सज्जन हैं वे यदि कदाचित् किसी दोष को भी अतिशय प्रगट करते हैं तो वह बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये उत्तम उपदेश के समान अत्यन्त प्रीति का कारण होता है। परन्तु जो आगमज्ञान से रहित हैं ऐसे अविवेकी जनों के द्वारा यदि धृष्टता से कुछ प्रशंसा भी की जाती है तो वह उन बुद्धिमान् मनुष्यों के मन को सन्तुष्ट नहीं करती है। निश्चय से वह अज्ञानता ही दुःखदायक है ॥१४४॥

ज्ञानियों में श्रेष्ठ कौन ?

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः ॥१४५॥

अन्वयार्थ : जो अन्य कारणों की अपेक्षा न करके केवल गुण के कारण किसी वस्तु (सम्यग्दर्शनादि) को ग्रहण करता है और दोष के कारण उसका (मिथ्यात्व आदि का) परित्याग करता है वही विद्वानों में श्रेष्ठ गिना जाता है ॥१४५॥

अहित का त्याग और हित में प्रवर्तन करने की प्रेरणा

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुखायसे भृशम् ।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ॥१४६॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर जो सम्यग्दर्शन आदि तेरा हित करने वाले हैं उनको तो छोडता है और जो मिथ्यादर्शनादि तेरा अहित करनेवाले हैं उनमें स्थित होता है । इस प्रकार से तू अपने आपको दुःखी करता है । तू विवेकी होकर इससे विपरीत प्रवृत्ति कर, अर्थात् अहितकारक मिथ्यादर्शनादि को छोडकर हितकारक सम्यग्दर्शनादि को ग्रहण कर । इस प्रकार से तू अपने को सुखी करेगा ॥ १४६॥

गुणों का ग्रहण और दोषों के त्याग की प्रेरणा

इमे दोषास्तेषां प्रभवनभमीभ्यो नियमतः
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः ।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः ॥१४७॥

अन्वयार्थ : ये (मिथ्यादर्शन आदि) दोष हैं और इनकी उत्पत्ति नियमतः इनसे (दर्शनमोहनीय आदि से) होती है, तथा ये (सम्यग्दर्शनादि) गुण हैं और उनकी भी उत्पत्ति इनसे (दर्शनमोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदि से) होती है, ऐसा निश्चय करके जो छोडने योग्य कारणों को छोडता है और हित के कारणों को स्वीकार करता है वह विद्वान् है, वही सम्यक्चारित्र से सम्पन्न है, और वही सुख एवं कीर्ति का घर भी है ॥१४७॥

विवेकियों का कर्त्तव्य

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाशः
तत्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥१४८॥

अन्वयार्थ : पूर्व जन्म में संचित किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से जो आयु, शरीर एवं धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि और उनका नाश होता है वे दोनों तो समस्त प्राणियों में ही समानरूप से पाये जाते हैं । परन्तु जो सुगति अर्थात् मोक्ष को सिद्ध करने वाले वृद्धि एवं नाश को अपनाता है वह बुद्धिमान्, तथा दूसरा इनकी विपरीतता से- दुर्गति के साधनभूत वृद्धि-नाश को अपनाने से- निर्बुद्धि (मूर्ख) कहा जाता है ॥१४८॥

यथार्थ चारित्र पालनेवाले मुनि विरले ही हैं !

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम् ।
नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिताः
तप:स्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥१४९॥

अन्वयार्थ : इस कलिकाल में (पंचम काल में) एक दण्ड ही नीति है, सो वह दण्ड राजाओं के द्वारा दिया जाता है । वे राजा उस दण्ड को धन का कारण बनाते हैं और वह धन वनवासी साधुओं के पास होता नहीं है । इधर वन्दना आदि में अनुराग रखने वाले आचार्य नम्रीभूत शिष्य साधुओं को सन्मार्ग पर चला नहीं सकते हैं । ऐसी अवस्था में तपस्वियों के मध्य में समुचित साधुधर्म का परिपालन करने वाले शोभायमान मणियों के समान अतिशय विरल हो गये हैं- बहुत थोडे रह गये हैं ॥१४९॥

स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवालों की संगति का निषेध

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै रङगालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः ।
संघर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः
मा वाजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥१५०॥

अन्वयार्थ : ये जो अपने को मुनि मानने वाले साधु हैं वे स्त्रियों के कटाक्षपूर्ण अवलोकनों के ग्रास बनकर शरीर में लगे हुए बाणों से खेद को प्राप्त हुए हरिणों के समान व्याकुल होकर परिभ्रमण करते हैं । परन्तु खेद है कि वे विषयरूप वनस्थली के मध्य में अपने को कहीं पर भी स्थिर रखने के लिये समर्थ नहीं होते हैं । हे भव्य! तू वायु से ताडित हुए मेघों के समान अस्थिरता को प्राप्त हुए इन साधुओं की संगति को प्राप्त न हो॥१५०॥

अयाचक वृत्ति धारण करने की प्रेरणा

गेहं गुहाः परिदधासि दिशो विहायः
संव्यानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणा: कलत्र
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥१५१॥

अन्वयार्थ : हे आगम के रहस्य के जानकार साधु ! तेरे लिये गुफायें ही घर हैं, दिशायें एवं आकाश ही तेरा वस्त्र है उसे तू पहिन, तप की वृद्धि ही तेरा इष्ट भोजन है, तथा स्त्री के स्थान में तू सम्यग्दर्शनादि गुणों से अनुराग कर । इस प्रकार तुझे याचना के योग्य कुछ भी नहीं है । अतएव तू वृथा ही याचनाजनित दीनता को न प्राप्त हो ॥१५१॥

कौन दीन और कौन अभिमानी

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महत्परम् ।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेनौ दीनाभिमानिनौ ॥१५२॥

अन्वयार्थ : परमाणु से दूसरा कोई छोटा नहीं है और आकाश से दूसरा कोई बड़ा नहीं है, ऐसा कहलाने वाले क्या इन दीन और अभिमानी मनुष्यों को नहीं देखा है ? ॥१५२॥

याचक का गौरव दाता में चला जाता है

याचितुगौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यया ।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतो गुरुलघू तदा ॥१५३॥

अन्वयार्थ : याचक पुरुष का गौरव दाता के पास चला जाता है, ऐसा मैं मानता हूं। यदि ऐसा न होता तो फिर उस समय देनेरूप अवस्था से संयुक्त दाता तो गुरु (महान्) और ग्रहण करनेरूप अवस्था से संयुक्त याचक लघु (क्षुद्र) कैसे दिखता? अर्थात् ऐसे नहीं दिखने चाहिये थे ॥१५३॥

वाञ्छक और अवाञ्छक की स्थिति

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥१५४॥

अन्वयार्थ : तराजू के दोनों ओर क्रम से होने वाला नीचापन और ऊंचापन स्पष्टतया यह प्रगट करता है कि लेने की इच्छा करने वाले प्राणी नीचे और न लेने की इच्छा करने वाले ऊपर जाते हैं ॥१५४॥

दरिद्रता की श्रेष्ठता !

तत्स्वमाशासते सर्वे न स्वं तत्सर्वर्पि यत् । **अर्थि**वैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निःस्वता वरम् ॥१५५॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य धन से सहित होता है उससे सब लोग आशा रखते हैं- मांगने की इच्छा करते हैं। परन्तु ऐसा वह धन नहीं है जो कि सब ही याचकों को सन्तुष्ट कर सके। अतएव याचक जन की विमुखता को उत्पन्न करनेवाले धनाढ्यपने की अपेक्षा तो कहीं निर्धनता ही श्रेष्ठ है ॥१५५॥

आशारूपी खाई की अगाधता

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥१५६॥

अन्वयार्थ : जो अत्यन्त गहरी आशारूप खान (गड्ढा) निधियों के द्वारा भी समान (पूर्ण) नहीं हो सकती है वह तेरे जिस स्वाभिमानरूप धन से समान हो सकती है वह स्वाभिमानरूप धन ही तेरा यथार्थ धन है॥१५६॥

आशाएरूपी खाई भरने का उपाय : तृष्णा का परित्याग

आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया।
उत्सर्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥१५७॥

अन्वयार्थ : तीनों लोकों को नीचे करने वाली यह आशारूप खान अथाह है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उक्त आशारूप खान में स्थित धनादिकों का उत्तरोत्तर परित्याग करके सज्जन पुरुषों ने उसे समान कर दिया है॥१५७॥

निर्ग्रन्थों द्वारा परिग्रह-ग्रहण का निषेध

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित्कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः
कथमयमहो गृण्हात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् ॥१५८॥

अन्वयार्थ : तपों को बढाने वाला मुनि आगम में कही गई विधि के अनुसार शरीर को स्थिर रखने के लिये किसी कालविशेष (चर्याकाल) में दूसरों के (श्रावकों के) द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये कुछ थोडे-से आहार को ग्रहण करने की इच्छा करता है। वह भी इस महात्मा के लिये अतिशय लज्जा का कारण होता है। फिर आश्चर्य है कि यह महात्मा अन्य परिग्रहरूप दुष्ट पिशाचों को कैसे ग्रहण कर सकता है ? नहीं करता है ॥१५८॥

कलि-काल का चक्रवर्तित्व

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं
गृण्हन्तः स्वशरीरतोऽपि विरताः सर्वोपकारेच्छया ।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥१५९॥

अन्वयार्थ : दाता तो गृहस्थ हैं और वह देय धन (देने योग्य धन) यहां पात्र के लिये भक्तिपूर्वक दिया जाने वाला भोजन है । सबके उपकार की इच्छा से जो उस आहाररूप धन को ग्रहण करने वाले साधु हैं वे अपने शरीर से भी विरत (निःस्पृह) होते हैं । यह आहारग्रहण की इच्छा भी उन स्वाभिमानियों के लिये लज्जा का ही कारण होती है। फिर भला उस आहार को निमित्त बना करके वे (साधु और दाता) राग-द्वेष के वशीभूत कैसे होते हैं ? वह इस पंचम काल का ही प्रभाव है ॥१५९॥

कर्मों के निमित्त से होनेवाली हानि

आमष्टं सहजं तव त्रिजगतोबोधाधिपत्यं तथा
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्मणा ।
दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रपः
स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितस्तुष्यसि ॥१६०॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तीनों लोकों को विषय करने वाले ज्ञान (केवलज्ञान) के ऊपर तेरा जो स्वाभाविक स्वामित्व था उसे इस कर्म ने लुप्त कर दिया है तथा पर पदार्थों की अपेक्षा न करके केवल आत्मा मात्र से उत्पन्न होने वाले तेरे उस स्वाभाविक सुख को भी उक्त कर्म ने पूर्णरूप से नष्ट कर दिया है । जो तू चिरकाल से उपवासादि के कष्टपूर्वक कुत्सित भोजनों (नीरस एवं नमक से हीन आदि) के बन्धन में स्थित रहा है वही तू निर्लज्ज होकर उस कर्म के द्वारा किये गये इन्द्रियसुखों (विषयसुखों) से दीनतापूर्वक संतुष्ट होता है ॥१६०॥

इन्द्रिय-सुख के लिए भी धैर्य की आवश्यकता

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते ।

प्रतीक्ष्य पाकं कि पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशये:॥१६१॥

अन्वयार्थ : हे साधो! यदि तुझे भोगों के विषय में अभिलाषा है तो तू कुछ समय के लिये व्रतादि के आचरण से होने वाले थोडे-से कष्ट को सहन कर । ऐसा करने से तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, वे भोग वहां पर ही हैं । तू पाक की प्रतीक्षा करता हुआ पानी आदि को पी करके क्यों भोजन को नष्ट करता है ? ॥१६१॥

महामुनियों का कुछ भी बिगाड़ने में कर्म असमर्थ

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम् ।

किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानकचक्षुषाम् ॥१६२॥

अन्वयार्थ : जिन साधुओं के निर्धनता (उत्तम आकिंचन्य) ही धन है तथा मृत्यु ही जिनका जीवन है उन ज्ञानरूप अद्वितीय नेत्र को धारण करने वाले साधुओं का भला कर्म क्या अनिष्ट कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता है ॥१६२॥

आशा को निराश करनेवालों का कर्म कुछ नहीं बिगाड़ सकता

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः ।

किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥१६३॥

अन्वयार्थ : जिन जीवों के जीवन की अभिलाषा और धन की अभिलाषा रहती है उन्हीं जीवों का कर्म कुछ अनिष्ट कर सकता है- वह उनके प्रिय जीवन और धन को नष्ट करके हानि कर सकता है। परन्तु जिन जीवों की आशा- जीने की इच्छा और विषयतृष्णा- निःशेषतया नष्ट हो चुकी है उनका वह कर्म भला क्या अनिष्ट कर सकता है ? कुछ भी नहीं- यदि वह उनके जीवन और धन का अपहरण करता है तो वह उनके अभीष्ट को ही सम्पादित करता है ॥१६३॥

स्तुत्य और निंद्य व्यक्तियों की चरम स्थिति

परां कोटिम् समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः ।

यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥१६४॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य तप के लिये चक्रवर्ती की विभूति को छोडता है तथा इसके विपरीत जो विषयों की अभिलाषा से उस तप को छोडता है वे दोनों ही क्रमशः स्तुति और निन्दा की उत्कृष्ट सीमा पर पहुंचते हैं ॥१६४॥

विषयाभिलाषियों द्वारा तप छोड़ने पर आश्चर्य

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं

सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम् ।

इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं

पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भ क्तुं जहाति महत्तपः ॥१६५॥

अन्वयार्थ : चूंकि तप का फल जो सुख है वह सुख अनुपम- समस्त संसारी जीवों को दुर्लभ, कर्म की अपेक्षा न करके केवल आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होनेवाला, और सदा रहने वाला (अविनश्वर) है; इसीलिये यदि चक्रवर्ती उस तप के लिये साम्राज्य को छोड़ देता है तो वह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । आश्चर्य तो महान् इस बात का है कि जो बुद्धिमान् पूर्व में विषयों को विष के समान घातक समझकर छोड देता है और तत्पश्चात् उन्हीं छोडे हुए विषयों को फिर से भोगने के लिये ग्रहण किये हुए उस महान् तप को भी छोड देता है ॥१६५॥

तप से च्युत होनेवालों की निर्भयता पर आश्चर्य

शय्यातलादपि तुकोऽपि भयं प्रपातात्

तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम् ।

चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्

धीमान स्वयं न तपसः पतनाद्विभेति ॥१६६॥

अन्वयार्थ : देखो, बालक भी ऊंचे शय्यातल (पलंग) से गिर जाने पर होने वाली अपनी पीडा को देखकर निश्चयतः उससे भय को प्राप्त होता है । परन्तु आश्चर्य है कि बुद्धिमान साधु तीन लोक के शिखर से भी अतिशय ऊंचे (महान्) उस तप से स्वयं च्युत होता हुआ भय को प्राप्त नहीं होता है ॥१६६॥

तप को मलिन करनेवालों की निन्दा

विशुद्धयति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम् ।

करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरः परः ॥१६७॥

अन्वयार्थ : जिस तप के द्वारा नियमतः सब ही दुष्ट आचरण शुद्धि को प्राप्त होता है उस तप को भी दूसरा निकृष्ट मनुष्य मलिन करता है ॥१६७॥

आश्चर्य-उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किं तु

विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः ।

पीत्वामृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः

संप्राप्य संयमनिधिम् यदि च त्यजन्ति ॥१६८॥

अन्वयार्थ : लोक आश्चर्यजनक सैकडों कौतुक हैं, परन्तु उनमें से ये दो कार्य हमें अतिशय आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। प्रथम तो आश्चर्य हमको उन पर होता है जो कि पहिले तो अमृत का पान करते हैं और फिर पीछे वमन करके उसे निकाल देते हैं । दुसरा आश्चर्य उनके ऊपर होता है जो कि पूर्व में तो विशुद्ध संयमरूप निधि को ग्रहण करते हैं और तत्पश्चात् उसे छोड भी देते हैं । अभिप्राय यह है कि पूर्व में तप-संयमादि को स्वीकार करके भी जो पीछे फिर से विषयों में अनुरक्त होकर उसे छोड़ देता है इस प्रकार का हीन मनुष्य समझना चाहिये जो कि पूर्व में अमृत को पी करके फिर पीछे उसे वमन द्वारा बाहिर निकाल देता है ॥१६८॥

रागादि का नाश करने की प्रेरणा

इह विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो

रूपचितनिजशक्तेर्नापरः कोप्यपाय:।

अशनशयनयानस्थानदत्तावधान:

कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥१६९॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! बहुत पापकर्म के आरम्भरूप बाहिरी शत्रु को नष्ट करके अपनी आत्मीक शक्ति को बढा लेने वाले तेरे लिये अन्य कोई भी दुख का कारण नहीं हो सकता है । तू राग-द्वेषादिरूप आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करने का अभिलाषी होकर भोजन,शयन, गमन एवं स्थिति आदि क्रियाओं के विषयमें सावधान होता हुआ अपने संयम की रक्षा कर ॥१६९॥

शास्त्राभ्यास की प्रेरणा

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते

वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।

समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं

श्रुतस्कन्धे धीमान्, रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥१७०॥

अन्वयार्थ : जो श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयोंरूप सैकडो शाखाओं से युक्त है, उन्नत है, तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड से स्थिर है उस श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु के लिये अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमाना चाहिये ॥१७०॥

वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप

तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति ।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥१७१॥

अन्वयार्थ : वह जीवादिरूप वस्तु तदतत्स्वरूप अर्थात् नित्यानित्यादिस्वरूप को प्राप्त होकर विराम को नहीं प्राप्त होती है, इस प्रकार समस्त तत्त्व का जानकार विश्व की अनादिनिधनता का विचार करे ॥१७१॥

प्रमाण से सिद्ध वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम् । अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥१७२॥

अन्वयार्थ : एक ही वस्तु विवक्षित एक ही समय में ध्रौव्य, उत्पाद और नाशस्वरूप सिद्ध है; क्योंकि इसके बिना उक्त वस्तु में जो भेद और अभेदरूप निर्बाध ज्ञान होता है वह घटित नहीं हो सकता है ॥१७२॥

परस्पर विरुद्ध धर्ममय सभी पदार्थ

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।
तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥१७३॥

अन्वयार्थ : जीव-अजीव आदि कोई भी वस्तु न सर्वथा स्थिर रहने वाली (नित्य) है, न क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाली (अनित्य) है, न ज्ञानमात्र है, और न आत्मस्वरूप ही है; क्योंकि वैसा निर्बाध प्रतिभास नहीं होता है। जैसा कि निर्बाध प्रतिभास होता है, तदनुसार वह वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले तदतत्स्वरूप अर्थात् नित्य-अनित्यादिस्वरूप से संयुक्त व अनादिनिधन है । जिस प्रकार एक तत्त्व नित्यानित्य, एक-अनेक एवं भेदाभेद स्वरूपवाला है उसी प्रकार समस्त तत्त्वों का भी स्वरूप समझना चाहिये ॥१७३॥

आत्मा का असाधारण स्वरूप

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

अन्वयार्थ : आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है और उस अनंतज्ञानादि स्वभाव की जो प्राप्ति है, यही उस आत्मा की अच्युति अर्थात् मुक्ति है। इसलिये मुक्ति की अभिलाषा करने वाले भव्य को उस ज्ञानभावना का चिन्तन करना काहिये ॥१७४॥

ज्ञान का फल और मोह की महिमा

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७५॥

अन्वयार्थ : ज्ञानस्वभाव का विचार करने पर प्राप्त होनेवाला उसका फल भी वही ज्ञान है जो कि प्रशंसनीय एवं अविनश्वर है। परन्तु आश्चर्य है कि अज्ञानी प्राणी उस ज्ञानभावना का फल ऋद्धि आदि की प्राप्ति भी खोजते हैं, यह उनके उस प्रबल मोह की महिमा है ॥१७५॥

भव्य और अभव्य में अंतर

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

अन्वयार्थ : शास्त्ररूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। किन्तु दुष्ट जीव (अभव्य) उस शास्त्ररूप अग्नि में प्रदीप्त होकर मलिन व भस्मस्वरूप हो जाता है ॥१७६॥

ध्यान की प्रक्रिया

मुहुः प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

अन्वयार्थ : आत्मतत्त्व का जानकार मुनि बार बार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसा कि पदार्थों का स्वरूप है उसी रूप से उनको देखता हुआ राग और द्वेष को दूर करके ध्यान करे ॥१७७॥

अज्ञानी को कर्म-बन्ध पूर्वक होने वाली निर्जरा

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥१७८॥

अन्वयार्थ : मथनी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सी के बंधने और खुलने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उक्त रस्सी के खींचने और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा ॥१७८॥

अविपाक निर्जरा की प्रेरणा

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत् ।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥१७९॥

अन्वयार्थ : छोडी जानेवाली रस्सी की फांसी के द्वारा मथानी के समान जीव के नवीन बन्ध और परिभ्रमण चालू रहता है। अतएव उसको इस प्रकार से छोडना चाहिये कि जिससे फिर से बन्धन और परिभ्रमण न हो सके ॥१७९॥

बन्ध और मुक्ति का कारण

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥१८०॥

अन्वयार्थ : राग और द्वेष के द्वारा की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव के बन्ध होता है तथा तत्त्वज्ञानपूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है ॥१८०॥

पाप, पुण्य और मुक्ति का कारण

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम् ।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहितं तयोर्मोक्षम् ॥१८१॥

अन्वयार्थ : गुण के निमित्त से की गई द्वेषबुद्धि तथा दोष के निमित्त से की गई अनुरागबुद्धि, इनसे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के निमित्त से होनेवाली अनुरागबुद्धि और दोष के निमित्त से होनेवाली द्वेषबुद्धि से पुण्य का उपार्जन होता है । तथा उन दोनों से रहित-अनुराग बुद्धि और द्वेषबुद्धि के बिना- उन दोनों (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवरपूर्वक निर्जरा होती है ॥१८१॥

राग-द्वेष का कारण

मोहबीजाद्रतिदद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार बीज से जड और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोहरूप बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं । इसलिये जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा उस मोहरूप बीजको जला देना चाहिये ॥१८२॥

मोह का स्वरूप और उसके विनाश का उपाय

पुराण ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्ध्यति रोहति ॥१८३॥
अन्वयार्थ : मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीडाकारक है । जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का), शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ, गहरा, नस से सहित और पीडा देने वाला घाव औषधयुक्त घी (मलहम) आदि से शुद्ध होकर- पीव आदि से रहित होकर- भर जाता है उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादिकाल से जीव के साथ रहने वाला, परिग्रह के ग्रहणरूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्), नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलतारूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्टदायक मोह भी उक्त परिग्रह के परित्यागरूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) ऊर्ध्वगमन (मुक्तिप्राप्ति) में सहायक होता है ॥१८३॥

मृत्यु के पश्चात् मित्र भी शत्रु हैं

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः ।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥१८४॥
अन्वयार्थ : यदि सुख को उत्पन्न करने वाले मित्र और दुख को उत्पन्न करने वाले शत्रु माने जाते हैं तो फिर जब मित्र भी मर करके वियोगजन्य दुख को करने वाले हैं तब वे भी शत्रु ही हुए। फिर उनके लिये शोक क्यों करना चाहिये? नहीं करना चाहिये ॥१८४॥

इष्ट-वियोग में शोक करनेवाले की स्थिति

अपरमरणे मत्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्
विलपति तरां स्वस्मिन् मृत्यो तथास्य जडात्मनः ।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित् ॥१८५॥
अन्वयार्थ : जो जडबुद्धि जीव दूसरे स्त्री, पुत्र एवं मित्र आदि के अपरिहार्य मरण के होने पर उन्हें अपना समझ करके रोता हुआ अतिशय विलाप करता है तथा अपने मरण के भी उपस्थित होने पर जो उसी प्रकार से विलाप करता है उस जडबुद्धि के निर्भयतापूर्वक मरण (समाधिमरण) को प्राप्त होने पर जिस महती कीर्ति और परलोक की सिद्धि हो सकती थी वह कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को मरण के प्राप्त होने पर किसी प्रकार से शोक नहीं करना चाहिये ॥१८५॥

शोक का कारण और फल तथा उसके अभाव की प्रेरणा

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम् ।
तेनः हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः ॥१८६॥
अन्वयार्थ : इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उससे दुख होता है तथा उसके लाभ से राग और फिर उससे सुख होता है । इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य को इष्ट की हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिये ॥१८६॥

पर-लोक में कौन सुखी और कौन दुःखी ?

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥१८७॥
अन्वयार्थ : जो प्राणी इस लोक में सुखी है वह परलोक में भी सुख को प्राप्त होता है तथा जो इस लोक में दुखी है वह परलोक में भी दुख को प्राप्त करता है। कारण यह कि समस्त इन्द्रियविषयों से विरक्त होने का नाम सुख और उनमें आसक्त होने का नाम ही दुख है ॥१८७॥

जन्म की मरण से समानता

मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।

तत्र प्रमुदितान् मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥१८८॥

अन्वयार्थ : यहां संसार में एक मरण से जो दूसरे मरण की प्राप्ति है, यही प्राणियों की उत्पत्ति है। इसलिये जो जीव उत्पत्ति में हर्ष को प्राप्त होते हैं वे पीछे होनेवाली मृत्यु के पक्षपाती हैं, ऐसा मैं समझता हूं ॥१८८॥

लाभ और पूजादि की कामना का निषेध

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो

यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।

छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः

कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥

अन्वयार्थ : समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनों का फल तू यहां सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिये कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा ॥१८९॥

तप और श्रुत का वास्तविक फल

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपंक्ति विना

शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।

कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्

शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥१९०॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! तू लोकपंक्तिके विना अर्थात् प्रतिष्ठा आदि की अपेक्षा न करके निष्कपटरूप से यहां इस प्रकार से निरन्तर शास्त्र का अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपों के द्वारा शरीर को भी इस प्रकार से सुखा कि जिससे तू दुर्जय कषाय एवं विषयरूप शत्रुओं को जीत सके । कारण कि मुनिजन राग-द्वेषादि की शान्ति को ही तप और शास्त्राभ्यास का फल बतलाते हैं ॥१९०॥

विषयाभिलाषा से अनर्थ

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं

स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।

स्तेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य

दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू विषयी जन को देखकर स्वयं विषय की अभिलाषा को क्यों प्राप्त होता है ? कारण कि थोडी-सी भी वह विषयाभिलाषा तेरे अधिक अनर्थ (अहित) को उत्पन्न करती है । ठीक ही है- जिस प्रकार कि तेल आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन करने वाले रोगी मनुष्य के लिये दोष जनक होने से उनका सेवन करना निषिद्ध है उस प्रकार वह दूसरे के लिये नहीं है ॥१९१॥

विषयों का दोष जानकर भी उनके सेवन में आश्चर्य

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं

सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम् ।

स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे

विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ॥१९२॥

अन्वयार्थ : अहित कारक विषयों में अनुराग करने वाला यह ज्ञानी मनुष्य भी यदि एक बार भी दुराचरण को सुनता है तो वह अतिशय प्यारी स्त्री को भी शीघ्र छोड देता है । फिर हे भव्य! तू विद्वान् एवं आत्महित में लीन हो करके प्रत्यक्ष में अनेक भवों में विषयों के दोष को देखता हुआ भी उन विषयोंरूप विषमिश्रित ग्रास का बार बार कैसे सेवन करता है ? ॥१९२॥

आत्म-हितकारी आचरण की प्रेरणा

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१९३॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन्! तू आत्मस्वरूप को नष्ट करने वाले अपने आचरणों के द्वारा चिर काल से दुरात्मा अर्थात् बहिरात्मा रहा है अब तू आत्मा का हित करने वाले ऐसे अपने समस्त आचरणों को अपनाकर उनके द्वारा उत्तम आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा हो जा। इससे तू अपने आपके द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा अवस्था को प्राप्त हो करके केवलज्ञानस्वरूप से संयुक्त, विषयादि की अपेक्षा न करके केवल अपनी आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुए आत्मीक सुख का अनुभव करने वाला और अपनी आत्मा द्वारा प्राप्त किये गये निज स्वरूप से सुशोभित होकर सुखी हो सकता है ॥१९३॥

बाह्य तप करने की प्रेरणा

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित
स्ततोऽनशनसाभिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकं रिपुभिवाद्य हस्तागतम् ॥१९४॥

अन्वयार्थ : पूर्व समय में इस शरीर ने तुझे संसार में बहुत काल तक दास के समान घुमाया है। इसलिये तू आज इस घृणित शरीर को हाथ में आये हुए शत्रु के समान जबतक कि वह नष्ट नहीं होता है तबतक अनशन, ऊनोदर एवं रसपरित्याग आदिरूप विशेष तपों के द्वारा क्रम से कृश कर ॥१९४॥

शरीर ही अनर्थों की परम्परा का कारण है

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु
मूलं ततस्तनुरनर्थपरंपराणाम् ॥१९५॥

अन्वयार्थ : प्रारम्भ में शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीर में दुष्ट इन्द्रियां होती हैं, वे अपने अपने विषयों को चाहती हैं; और वे विषय मानहानि (अपमान), परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गति को देने वाले हैं। इस प्रकार से समस्त अनर्थों की परम्परा का मूल कारण वह शरीर ही है ॥१९५॥

अज्ञानियों द्वारा शरीर-पोषण का प्रयोजन

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम् ॥१९६॥

अन्वयार्थ : अज्ञानी जन शरीर को पुष्ट करते हैं और विषयों का भी सेवन करते हैं । ठीक है- ऐसे मनुष्यों को कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है- वे सब ही अकार्य कर सकते हैं। वे वैसा करते हुए मानो विष से जीवित रहने की इच्छा करते हैं ॥१९६॥

अज्ञानियों द्वारा शरीर-पोषण का प्रयोजन

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार हिरण वन में इधर उधर दुखी होकर- सिंहादिकों से भयभीत होकर- रात्रि में उस वन से गांव के निकट आ जाते हैं उसी प्रकार इस पंचम काल में मुनिजन भी वन में इधर उधर दुखी होकर- हिंसक एवं अन्य दुष्ट जनों से भयभीत होकर- रात्रि में वन को छोडकर गांव के समीप रहने लगे हैं, यह खेद की बात है ॥१९७॥

इससे तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।

श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसंपदः ॥१९८॥

अन्वयार्थ : आज जो तप ग्रहण किया गया है वह यदि कल स्त्रियों के कटाक्षोंरूप लुटेरों के द्वारा वैराग्यरूप सम्पत्ति से रहित किया जाता है तो जन्मपरम्परा (संसार) को बढ़ानेवाले उस तप की अपेक्षा तो कहीं गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ था ॥१९८॥

शरीर और स्त्री से राग छोड़ने की प्रेरणा

स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमानः

संप्राप्तोऽमिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत्कलत्रम् ।

नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोऽसि भूयः

सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥१९९॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! इस शरीर के होने पर ही तूने इस दुखदायक स्त्री को स्वीकार किया है और ऐसा करते हुए तूने लज्जा और स्वाभिमान को छोडकर-निर्लज्ज एवं दीन बनकर-उसके निमित्त से होने वाले न तो सैकडों तिरस्कारों को गिना और न अपने आत्मप्रयोजन से-तप-संयमादि को धारण करके उसके द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षसुख से- भ्रष्ट होने को भी गिना। वह शरीर और स्त्री तेरे साथ निश्चय से एक पद (कदम) भी जाने वाले नहीं हैं इनसे अनुराग करके तू फिर से भी धोका खावेगा। इसलिये हे साधो! यदि तू बुद्धिमान् है तो उस शरीर से मित्रता को न प्राप्त हो- उसके विषय ममत्वबुद्धि को छोड दे ॥१९९॥

दो द्रव्यों में एकत्व होना असम्भव

न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता

गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा ।

न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमतिः

ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखो भववने ॥२००॥

अन्वयार्थ : कोई भी अन्य गुणवान् किसी अन्य गुणवान् के साथ अभेदस्वरूपता को नहीं प्राप्त होता है । परन्तु तू (अरूपी) किसी कर्म के वश उन रूपी शरीरादि के साथ अभेद को प्राप्त हो रहा है । जिन शरीरादि को तू अभिन्न मानता है वे वास्तव में तुझ स्वरूप नहीं हैं । इसीलिये तू उनमें ममत्वबुद्धि को प्राप्त होकर आसक्त रहने से इस संसाररूप वन में छेदा भेदा जाकर बहुत दुखी होता है ॥२००॥

शरीर से ममत्व और सुख की आशा रखना आश्चर्यजनक है

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ ।

प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रम् तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

अन्वयार्थ : इस शरीर की उत्पत्ति तो माता है, मरण पिता है, आधि (मानसिक दुख) एवं व्याधि (शारीरिक दुख) सहोदर (भाई) हैं, तथा अन्त में प्राप्त होने वाला बुढापा पास में रहनेवाला मित्र है; फिर भी उस निन्द्य शरीर के विषय में प्राणी आशा करता है ॥२०१॥

शरीर को धिक्कार है

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तोऽ

प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि।

मूर्तम् सदाशुचि विचेतनमन्यदत्र
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू स्वभाव से शुद्ध, समस्त विषयों का ज्ञाता और रूप-रसादि से रहित (अमूर्तिक) हो करके भी उस शरीर के द्वारा अतिशय अपवित्र किया गया है । ठीक है- वह मूर्तिक, सदा अपवित्र और जड शरीर यहां कौन-सी पवित्र वस्तु (गन्ध विलेपनादि) को मलिन नहीं करता है ? अर्थात् सबको ही वह मलिन करता है । इसलिये ऐसे इस शरीर को बार बार धिक्कार है ॥२०२॥

सच्चे ज्ञान और सच्चे साहस का स्वरूप

हा हतोऽसि तरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसम् ॥२०३॥
अन्वयार्थ : हे प्राणी ! तू चूंकि इस शरीर के विषय में अतिशय दुखी हुआ है इसीलिये उस शरीर के सम्बन्ध में जो तुझे इस समय अपवित्रता का ज्ञान हुआ है वह योग्य है। अब उस शरीर का परित्याग करना,यह तेरा अतिशय साहस होगा॥२०३॥

रोग होने पर ज्ञानियों की परिणति

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न यतिः खेदमृच्छति ।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥२०४॥
अन्वयार्थ : साधु अतिशय वृद्धि को प्राप्त हुए भी रोगादिकों के द्वारा खेद को नहीं प्राप्त होता है। ठीक है- नाव में स्थित प्राणी को नदी के जल में अधिक वृद्धि होने पर भी कौन-सा भय होता है ? अर्थात् उसे किसी प्रकार का भी भय नहीं होता है ॥२०४॥

रोग होने पर ज्ञानियों की परिणति

जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात् ।
लग्नाग्निमावसति वन्हिममोह्य गेहं
निर्याय वा व्रजति तत्र सुधी किमास्ते ॥२०५॥
अन्वयार्थ : रोग के उत्पन्न होने पर उसका औषधादि के द्वारा प्रतीकार करके उस शरीर में स्थित रहना चाहिये । परन्तु यदि रोग असाध्य हो और उसका प्रतीकार नहीं किया जा सकता हो तो फिर उस शरीर को छोड देना चाहिये, यह दूसरी अवस्था है। जैसे- यदि घर अग्नि से व्याप्त हो चुका है तो यथासम्भव उस अग्नि को बुझाकर प्राणी उसी घर में रहता है। परन्तु यदि वह अग्नि नहीं बुझाई जा सकती है तो फिर उसमें रहने वाला प्राणी उस घर से निकलकर चला जाता है। क्या कोई बुद्धिमान् प्राणी उस जलते हुए घर में रहता है ? अर्थात् नहीं रहता है ॥२०५॥

रोग मिटने से सुख मानना अज्ञान है

शिरःस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः ।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥२०६॥
अन्वयार्थ : शिर के ऊपर स्थित भार को उतारकर और उसे प्रयत्नपूर्वक कन्धे के ऊपर करके अज्ञानी प्राणी उस शरीरस्थ भार से सुख की कल्पना करता है ॥२०६॥

असाध्य रोग होने पर शरीर से उदास होने की प्रेरणा

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम् ।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥२०७॥
अन्वयार्थ : जब तक रोगों का प्रतीकार हो सकता है तब तक उसे करना चाहिये। परन्तु फिर भी यदि वे नष्ट नहीं होते हैं तो इससे खेद को

प्राप्त नहीं होना चाहिये । यही वास्तव में उन रोगों का प्रतीकार है ॥२०७॥

शरीर का ग्रहण जन्म का और त्याग मुक्ति का कारण है

यदादाय भिवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति ।

शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥२०८॥

अन्वयार्थ : जिस शरीर को ग्रहण करके प्राणी जन्मवान् अर्थात् संसारी बना हुआ है तथा जिसको छोडकर वह मुक्त हो जावेगा उस शरीर को ही छोड देना चाहिये । अन्य क्षुद्र विचारों से क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं ॥२०८॥

शरीर के कारण जीव भी अस्पृश्य

नयेत् सर्वाशुचिप्रायः शरीरमपि पूज्यताम् ।

सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥२०९॥

अन्वयार्थ : जो आत्मा प्रायः करके सब ओर से अपवित्र ऐसे उस शरीर को भी पूज्य पद को प्राप्त कराता है उस आत्मा को भी जो शरीर स्पर्श के योग्य भी नहीं रहने देता है उसको धिक्कार है ॥२०९॥

शरीर के तीन प्रकार

रसादिराद्यो भागः स्याज्जानावृत्त्यादिरन्वतः ।

ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः ॥२१०॥

अन्वयार्थ : संसारी प्राणी का रस आदि सात धातुओं रूप पहिला भाग है, इसके पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मों रूप उसका दूसरा भाग है, तथा तीसरा भाग उसका ज्ञानादिरूप है; इस प्रकारसे संसारी जीव तीन भागस्वरूप है ॥२१०॥

शरीर के तीन प्रकार

भागत्रयमयं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम् ।

भागद्वयात्पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२११॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार इन तीन भागोंस्वरूप व कर्मबन्ध से सहित नित्य आत्मा को जो प्रथम दो भागों से पृथक करने के विधान को जानता है उसे तत्त्वज्ञानी समझना चाहिये ॥२११॥

कषाय-शत्रु को जीतना आसान

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।

चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥

अन्वयार्थ : यदि तू कष्ट को न सहने के कारण घोर तप का आचरण नहीं कर सकता है तो न कर । परन्तु जो कषायादिक मन से सिद्ध करने योग्य हैं- जीतने योग्य हैं- उन्हें भी यदि नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है ॥२१२॥

कषायों के रहते हुए गुणों की प्राप्ति होना दुर्लभ

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे

वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।

श्रयति गुणगुणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं

सयमशमविशेषस्तान् विजेतुं यतस्व ॥२१३॥

अन्वयार्थ : निर्मल और अथाह हृदयरूप सरोवर में जब तक कषायोंरूप हिंस्र जल जन्तुओं का समूह निवास करता है तब तक निश्चय से यह उत्तम क्षमादि गुणों का समुदाय निःशंक होकर उस हृदयरूप सरोवर का आश्रय नहीं लेता है । इसीलिये हे भव्य ! तू व्रतों के साथ

तीव्र-मध्यमादि उपशम भेदों से उन कषायों के जीतने का प्रयत्न कर ॥२१३॥

कषायों के आधीन होनेवालों का उपहास

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुबिडालिकेति तदिद्धं धिधिक्कलेः प्राभवं
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥२१४॥

अन्वयार्थ : जो विद्वान् परिग्रह के त्यागरूप हेतु तथा उसके फलभूत मन की शान्ति को छोडकर उस पारलौकिक सिद्धि की अभिलाषा करते हुए स्वयं ही उसके साधनस्वरूप से शान्त मन की प्रशंसा करते हैं उनका यह कार्य आखु-बिडालिका के समान है । यह सब कलिकाल का प्रभाव है, उसके लिये धिक्कार हो। इस कलिकाल के प्रभाव से ये विद्वान् भी इस लोक और परलोक सम्बन्धी फल को नष्ट करने से अतिशय ठगे जाते हैं॥२१४॥

साधर्मियों के प्रति ईर्ष्या के त्याग की प्रेरणा

उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः ।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्न देशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू तपश्चरण में उद्यत हुआ है, कषायों का तूने अतिशय पराभव कर दिया है, तथा समुद्र में स्थित आगाध जल के समान तेरे में अगाध ज्ञान भी प्रगट हो चुका है; तो भी जैसे प्रवाह के सूख जाने पर भी कुछ नीचे के भाग में पानी अवश्य रह जाता है जो कि दूसरों के द्वारा नहीं देखा जा सकता है, वैसे ही कर्म के वश से जो अपने समान अन्य व्यक्ति में तेरे लिये मात्सर्य (ईर्ष्या भाव) होता है वह दुर्जय तथा दूसरों के लिये अदृश्य है । उसको तू छोड दे ॥२१५॥

क्रोध से होनेवाली हानि

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङगबुद्ध्या ।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥२१६॥

अन्वयार्थ : जिस महादेव ने क्रोध के वश होते हुए अज्ञानता से चित्त में भी कामदेव को न जानकर उस कामदेव के भ्रम से किसी बाह्य वस्तु को जला दिया था वह महादेव उक्त काम के द्वारा की गई भयानक अवस्था को प्राप्त हुआ है। ठीक है- क्रोध के कारण किसके कार्य की हानि नहीं होती है ? अर्थात् उसके कारण सब ही जन के कार्य की हानि होती है॥२१६॥

मान से होनेवाली हानि

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत् ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिम् महतीं करोति ॥२१७॥

अन्वयार्थ : अपनी दाहिनी भुजा के ऊपर स्थित चक्र को छोडकर जिस समय बाहुबली ने दीक्षा ग्रहण की थी उसी समय उन्हें उस तप के द्वारा मुक्त हो जाना चाहिये था। परन्तु वे चिरकाल तक उस क्लेश को प्राप्त हुए। ठीक है- थोडा-सा भी मान बडी भारी हानि को करता है ॥२१७॥

मान के त्याग की प्रेरणा

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गो गतौ निर्वृतेः ।
येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराः
चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥२१८॥

अन्वयार्थ : पूर्व में यहां जिन महापुरुषों के वचन में सत्यता, बुद्धि में आगम, हृदय में दया, बाहु में शूरवीरता, पराक्रम में लक्ष्मी, प्रार्थी जनों के समूह को परिपूर्ण दान तथा मुक्ति के मार्ग में गमन; ये सब गुण रहे हैं वे भी अभिमान से रहित थे; ऐसा आगम (पुराणों) से जाना जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि इस समय उपर्युक्त गुणों का लेश मात्र भी न रहने पर मनुष्य अतिशय गर्व को प्राप्त होते हैं ॥२१८॥

सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं, अतः गर्व करना व्यर्थ है

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥२१९॥

अन्वयार्थ : जिस पृथिवी के ऊपर सब ही पदार्थ रहते हैं वह पृथिवी भी दूसरों के द्वारा- घनोदधि, घन और तनु वातवलयों के द्वारा-- धारण की गई है । वह पृथिवी और वे तीनों ही वातवलय भी आकाश के मध्य में प्रविष्ट हैं, और वह आकाश भी केवलियों के ज्ञान के एक कोने में विलीन है। ऐसी अवस्था में यहां दूसरा अपने से अधिक गुणवालों के विषय में कैसे गर्व धारण करता है ? ॥२१९॥

माया से होनेवाली हानि

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबदुवेषेण नितरा
मपि च्छमाल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥२२०॥

अन्वयार्थ : यह मरीचि की कीर्ति सुवर्णमग के कपट से मलिन की गई है, 'अश्वत्थामा हतः' इस वचन से युधिष्ठिर स्नेही जनों के बीच में हीनता को प्राप्त हुए, तथा कृष्ण वामनावतार में कपटपूर्ण बालक के वेष से श्यामवर्ण हुए- अपयशरूप कालिमा से कलंकित हुए । ठीक है- थोडा-सा भी वह कपटव्यवहार महान् दूध में मिले हुए विष के समान घातक होता है ॥२२०॥

माया से होनेवाली हानि

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिंल्लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥२२१॥

अन्वयार्थ : जो मायाचाररूप बडा गढ्ढा मिथ्यात्वरूप सघन अन्धकार से परिपूर्ण है तथा जिसके भीतर छिपे हुए क्रोधादि कषायोंरूप भयानक सर्प देखने में नहीं आते हैं उस मायारूप गड्ढे से भयभीत होना चाहिये॥२२१॥

माया से होनेवाली हानि

प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि न वेति धीमान्
ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मेति मंस्थाः ।
कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहं।
गूढोऽप्यबोधि न विधुं स विधुन्तुदः कैः ॥२२२॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! कोई भी बुद्धिमान् मेरे गुप्त पापकर्म को तथा मेरे महान् गुण के नाश को भी नहीं जानता है, ऐसा तू न समझ । ठीक है- अपनी धवल किरणों के द्वारा प्राणियों के संताप को दूर करनेवाले चन्द्र को अतिशय ग्रसित करनेवाला गुप्त भी वह राहु किनके द्वारा नहीं जाना गया है ? अर्थात् वह सभी के द्वारा देखा जाता है ॥२२२॥

लोभ से होनेवाली हानि

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः
किल जडतया लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥२२३॥

अन्वयार्थ : वन में संचार करने वाले सिंहादि अथवा भील के भय से भागते हुए जिस चमर मृग की पूंछ दुर्भाग्य से लतासमूह में उलझ गई है तथा जो अज्ञानता से उस पूंछ के बालों के समूह में लोभी होकर वहीं पर निश्चलता से खडा हो गया है, वह मृग खेद है कि उक्त सिहादि अथवा व्याध के द्वारा प्राणों से भी रहित किया जाता है। ठीक है- जिनकी तृष्णा वृद्धिंगत है उनके लिये प्रायः करके ऐसी ही विपत्तियां प्राप्त होती हैं॥२२३॥

निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियविषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शान्ति, यम-नियम, इन्द्रियदमन, सात तत्त्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण,जिन भगवान में भक्ति, और प्राणियों पर दयाभाव; ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके कि संसाररूप समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है ॥२२४॥

निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

अन्वयार्थ : जो यम-यावज्जीवन किये गये व्रत, तथा नियम में-परिमित काल के लिये धारण किये गये व्रत में-उद्यत है, जिसको अन्तरात्मा (अन्तःकरण) बाह्य इन्द्रियविषयों से निवृत्त हो चुकी है, जो ध्यान में निश्चल रहता है, सब प्राणियों के विषय में दयालु है, आगमोक्त विधि से हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजन को ग्रहण करने वाला है, निद्रा से रहित है,तथा जो अध्यात्म के रहस्य को जान चुका है। ऐसा जीव समस्त क्लेशों के समूह को जडमूल से नष्ट कर देता है ॥२२५॥

गुणों से मण्डित मुनिराज ही मुक्ति के पात्र

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

अन्वयार्थ : जो समस्त हेय-उपादेय तत्त्व के जानकार हैं, सब प्रकार की पापक्रियाओं से रहित हैं, आत्महित में मन को लगाकर समस्त इन्द्रियव्यापार को शान्त करने वाले हैं, स्व और पर के लिये हितकर वचन का व्यवहार करते हैं, तथा सब संकल्प-विकल्पों से रहित हो

चुके हैं; ऐसे वे मुनि यहां कैसे मुक्ति के पात्र न होंगे ? अवश्य होंगे ॥२२६॥

रत्नत्रय की रक्षा करने की प्रेरणा

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां परस्
तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति ।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वां तन्मुहुर्जागृहि ॥२२७॥

अन्वयार्थ : जो विषयरूप राजा की दासता को प्राप्त हुए हैं तथा जिनका आत्मा भी पर(पराधीन) है ऐसे उन गुण-दोष के विचार से रहित मनवाले प्राणियों का भला वह क्या नष्ट होता है ? अर्थात् उनका कुछ भी नष्ट नहीं होता है। परन्तु हे साधो ! चूंकि तेरे पास लोक को प्रकाशित करनेवाले अमूल्य तीन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) रत्न विद्यमान हैं अतएव तुझको ही डरना चाहिये। कारण कि तेरे चारों ओर इन्द्रियरूप चोर घूम रहे हैं। इसलिये तू निरन्तर जागता रह ॥२२७॥

संयम के उपकरणों से भी अनुराग करने का निषेध

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो
मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं
पीत्वौषधिम् व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥२२८॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! जब तू रमणीय बाह्य अचेतन वस्तुओं एवं चेतन स्त्री-पुत्रादि के विषय में मोह से रहित हो चुका है तब फिर संयम के साधनभूत पीछी-कमण्डल आदि के विषय में क्यों व्यर्थ में मोह को प्राप्त होता है ? क्या कोई बुद्धिमान् रोग के भय से भोजन का परित्याग करता हुआ औषधि को पीकर कभी अजीर्ण को प्राप्त होता है? अर्थात् नहीं प्राप्त होता है॥२२८॥

तप और श्रुतरूपी निधि की रक्षा करने की प्रेरणा

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यदा
कृषीफलमिवालये समुपलीयते स्वात्मनि ।
कृषीवल इवोज्झितः करणचौरबाधादिभिः
तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥२२९॥

अन्वयार्थ : बाहिर उत्पन्न होकर वृद्धिंगत हुई कृषी के फल (अनाज) को जब चोर आदि की बाधाओं से सुरक्षित रखकर घर पहुंचा दिया जाता है तब जिस प्रकार धीर बुद्धि किसान अपने को कृतकृत्य (सफलप्रयत्न) मानता है, उसी प्रकार बाह्य में उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त हुए तप और आगमज्ञान इन दोनों को इन्द्रियोंरूप चोरों की बाधाओं से सुरक्षित रखकर जब अपनी आत्मा में स्थिर करा देता है तब धीर बुद्धि साधु भी अपने को कृतकृत्य मानता है ॥२२९॥

आशारूपी शत्रु से सावधान रहने की शिक्षा

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाशाद्विषम् । पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः ॥२३०॥

अन्वयार्थ : मैं पदार्थों के स्वरूप को जान चुका हूं, इसलिये यह आशारूप शत्रु मेरा कुछ बिगाड नहीं कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान के अभिमान से तू तीनों लोकों में अतिशय भय को उत्पन्न करनेवाले उस आशारूप शत्रु की उपेक्षा न करके उसे निर्मल नष्ट कर दे। देखो, अथाह जल से परिपूर्ण भी समुद्र को वाडवाग्नि अतिशय बाधा पहुंचाती है । ठीक है- जिसकी गोद में (समीप में) शत्रु स्थित है उसे भला संसार में प्रायः शान्ति कहांसे प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकती है ॥२३०॥

मोह का सर्वथा नाश करने की प्रेरणा

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः ।

दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥२३१॥

अन्वयार्थ : जिसका हृदय स्नेह (राग) से सम्बद्ध है वह ज्ञान और चारित्र से युक्त होकर भी चूंकि स्नेह (तेल) से सम्बद्ध दीपक के समान कज्जल जैसे मलिन कर्मों को उत्पन्न करता है अतएव वह प्रशंसा के योग्य नहीं है ॥२३१॥

वीतरागता के अभाव में दुःख

रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः ।

तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो बत सीदसि ॥२३२॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू राग से हटकर द्वेष को प्राप्त होता है और तत्पश्चात् उससे भी रहित होकर फिर से उसी राग को प्राप्त होता है । इस प्रकार खेद है कि तू तीसरे पद को- राग-द्वेष के अभावरूप समताभाव को- न प्राप्त करके यों ही दुखी होता है ॥२३२॥

इन्द्रिय-सुख से दुःखों की शान्ति असम्भव

तावद् दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः सुखसीकरैः ।

निर्वासि निर्वृत्ताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! जब तक तू मोक्षसुखरूप समुद्र में नहीं निमग्न होता है तब तक तू दुखरूप अग्नि से तपे हुए लोहे के गोले के समान विषयजनित क्षणिक लेशमात्र सुख से सुखी नहीं हो सकता है ॥२३३॥

ज्ञान-चारित्ररूपी मूल्य चुकाकर मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा

मञ्क्षु मोक्षं सुसम्यक्त्व सत्यंकारस्वसात्कृतम् ।

ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥२३४॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू निर्मल सम्यग्दर्शनरूप ब्याना देकर अपने आधीन किये हुए मोक्ष को सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप पूरा मूल्य देकर शीघ्र ही अपने हाथ में करले॥२३४॥

भोग्य और अभोग्य के विकल्पों से पार

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्योः परमार्थकोट्याम् । अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ॥२३५॥

अन्वयार्थ : यह समस्त संसार एकरूप है- वास्तव में भोग्य और अभोग्य की कल्पना से रहित है। फिर भी वह प्रवृत्ति और निवृत्ति की अतिशय प्रकर्षता में प्रवृत्ति की अपेक्षा भोग्य और निवृत्ति की अपेक्षा अभोग्य होता है । जो भव्य प्राणी मोक्ष की इच्छा करता है उसे भोग्य और अभोग्यरूप विकल्पबबुद्धि से निवृत्ति का अभ्यास करना चाहिये ॥२३५॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति से पार अवस्था प्राप्त करने की प्रेरणा

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्यं तदभावतः ।

न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥२३६॥

अन्वयार्थ : जब तक छोडने के योग्य शरीरादि बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध है तब तक निवृत्ति का विचार करना चाहिये और जब छोडने के योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रहती है तब न तो प्रवृत्ति रहती है और न निवृत्ति भी । वही अविनश्वर मोक्षपद है ॥२३६॥

प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके कारण

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।

तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ! तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥२३७॥

अन्वयार्थ : राग और द्वेष का नाम प्रवृत्ति तथा इन दोनों के अभाव का नाम ही निवृत्ति है। चूंकि वे दोनों (राग और द्वेष) बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं । अतएव उन बाह्य वस्तुओं का ही परित्याग करना चाहिये ॥२३७॥

अपूर्व-अपूर्व भाव करने की प्रेरणा

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।

भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥२३८॥

अन्वयार्थ : मैंने संसारस्वरूप भंवर में पडकर पहिले कभी जिन सम्यग्दर्शनादि भावनावों का चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूं और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओं का बार बार चिन्तन कर चुका हूं उनका अब मैं चिन्तन नहीं करता हूं। इस प्रकार मैं अब पूर्व भावित भावनाओं को छोडकर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूं, क्योंकि, इस प्रकार की भावनायें संसारविनाश की कारण होती हैं ॥ २३८॥

हेय-उपादेय का स्वरूप

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम् ।

हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥२३९॥

अन्वयार्थ : शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुख ; इस प्रकार ये छह हुए । इन छहों के तीन युगलों से आदि के तीन- शुभ, पुण्य और सुख- आत्मा के लिये हितकारक होने से आचरण के योग्य हैं । तथा शेष तीन- अशुभ, पाप और दुख- अहित-कारक होने से छोडने के योग्य हैं॥२३९॥

अशुभादि के त्याग का क्रम

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम् ।

शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०॥

अन्वयार्थ : पूर्व श्लोक में जिन तीन को-शुभ, पुण्य और सुख को-हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिये । ऐसा करनेसे शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ को छोडकर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥२४०॥

आत्मा और बन्ध की सिद्धि पूर्वक मोक्ष की सिद्धि

अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवैः

ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ।

मिथ्यात्वोपचितात्स एव समल: कालादिलब्धौ क्वचित् सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥२४१॥

अन्वयार्थ : आत्मा है और वह अनादि परम्परा से प्राप्त हुए बन्धनों में स्थित है । वे बन्धन मन,वचन एवं शरीर को शुभाशुभ क्रियाओं रूप आस्रवों से प्राप्त हुए हैं; वे आस्रव क्रोधादि कषायों से किये जाते हैं; क्रोधादि प्रमादों से उत्पन्न होते हैं, और वे प्रमाद मिथ्यात्व से पुष्ट हुई अविरति के निमित्त से होते हैं । वही कर्म-मल से सहित आत्मा किसी विशिष्ट पर्याय में कालादिलब्धि के प्राप्त होने पर क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता अर्थात् प्रमादों का अभाव, कषायों का विनाश और योगनिरोध के द्वारा उपर्युक्त बन्धनों से मुक्ति पा लेता है॥ २४१॥

शरीरादि से प्रीति ही आपत्ति

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।

क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तपःफले ॥२४२॥

अन्वयार्थ : 'यह मेरा है और मैं इसका हूं' इस प्रकार का अनुराग जबतक ईति के समान खेत (शरीर) के विषय में उत्पन्न होकर खेत के

स्वामी के समान आचरण करता है तब तक तप के फलभूत मोक्ष के विषय में भला क्या आशा की जा सकती है? नहीं की जा सकती है॥ २४२॥

देह के प्रति एकत्व बुद्धि के त्याग की प्रेरणा

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे । नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥२४३॥

अन्वयार्थ : मुझको (आत्मा को) अन्य शरीरादिरूप तथा शरीरादि को मैं (आत्मा) समझकर यह प्राणी उक्त भ्रम के कारण अबतक संसाररूप समुद्र में घूमा है । वास्तव में मैं अन्य नहीं हूं- शरीरादि नहीं हूं, मैं मैं ही हूं; और अन्य (शरीरादि) अन्य ही है, अन्य मैं नहीं हूं; इस प्रकार जब अभ्रान्त ज्ञान (विवेक) उत्पन्न होता है तब ही प्राणी उक्त संसाररूप समुद्र के परिभ्रमण से रहित होता है ॥२४३॥

विद्वानों का अपूर्व कौशल

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः सांप्रतम् ।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥२४४॥

अन्वयार्थ : संसार के भीतर बाह्य पदार्थों में अतिशय अनुराग रखने वाले जीव के पहिले जिस जिस वस्तु के द्वारा दृढ बन्ध उत्पन्न हुआ था उसी के इस समय यथार्थज्ञान से परिणत होकर वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त होने पर वह वह वस्तु उक्त बन्ध के विनाश का कारण हो रही है । विद्वानों की वह अलौकिक कुशलता अनुपम ही है जो दुर्बोध है- बडे कष्ट से जानी जाती है॥२४४॥

बन्ध और निर्जरा की परिपाटी

अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः ।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः ॥२४५॥

अन्वयार्थ : किसी जीवके अधिक कर्मबन्ध होता है, किसीके अल्प कर्म, बन्ध होता है,किसी के समान ही कर्मबन्ध होता है, और किसी के कर्म का बन्ध न होकर केवल उसकी निर्जरा ही होती है। यह बन्ध और मोक्षका क्रम माना गया है ॥२४५॥

योगी कौन ?

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरात्रवः ॥२४६॥

अन्वयार्थ : जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीणं होते हैं वह योगी कहा जाता है और उसके कर्मों का मोक्ष होता है, किन्तु आस्रव नहीं होता है ॥२४६॥

प्रतिज्ञाओं के बाँध से तपरूपी सरोवर की सुरक्षा

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥२४७॥

अन्वयार्थ : हे साधो ! गुणरूप जल से परिपूर्ण महातपरूप तालाब के प्रतिज्ञारूप पालिबंध (बांध) के विषय में तू थोडी-सी भी हानि की उपेक्षा न कर॥२४७॥

अल्प दोष भी बहुत हानिकारक है

दृढगुप्तिकपाटसंवृतिर्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रंध्रम् कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः ॥२४८॥

अन्वयार्थ : दृढ गुप्तियों (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) रूप किवाडों से सहित, धैर्यरूप भित्तियों के आश्रित और बुद्धिरूप नीव से परिपूर्ण, इस प्रकार गृह के आकार को धारण करने वाला मुनिपद थोडे-से भी छिद्र को पाकर कुटिल राग-द्वेषादिरूप सर्पों के द्वारा विकृत कर दिया जाता है ॥२४८॥

पर- निन्दा के त्याग की प्रेरणा

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः ।

तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥२४९॥

अन्वयार्थ : जो साधु अतिशय दुष्कर तपों के द्वारा अपने जिन दोषों के नष्ट करने में उद्यत है वह अज्ञानतावश दूसरों के दोषों के कथन (परनिन्दा) रूप भोजनों के द्वारा उन्हीं दोषोंको पुष्ट करता है ॥२४९॥

गुणवानों के अल्प दोष भी प्रसिद्ध

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात्क्वचि

ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोऽप्यलम् ।

द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जगद्

विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम् ॥२५०॥

अन्वयार्थ : समस्त गुणों के आधारभूत महात्मा के यदि दुर्भाग्यवश कहीं चारित्र आदि के विषय में कोई दोष उत्पन्न हो जाता है तो चन्द्रमा के लांछन के समान उसको देखने के लिये यद्यपि अन्धा (मन्दबुद्धि) भी समर्थ होता है तो भी वह दोषदर्शी इतने मात्र से कुछ उस महात्मा के स्थान को नहीं प्राप्त कर लेता है । जैसे- अपनी ही प्रभा से प्रगट किये गये चन्द्र के कलंक को समस्त संसार देखता है, परन्तु क्या कभी कोई उक्त चन्द्र की पदवी को प्राप्त हुआ है ? अर्थात कोई भी उसकी पदवी को नहीं प्राप्त हुआ है॥२५०॥

ज्ञानियों की वैचारिक दशा

यद्यद चरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम् ।

उत्तरोतरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥२५१॥

अन्वयार्थ : पूर्व में जो जो आचरण किया है- दूसरे के दोषों को और अपने गुणों को जो प्रगट किया है- वह सब योगी के लिये आगे आगे विवेकज्ञान की वृद्धि होने से अज्ञानतापूर्ण किया गया प्रतीत होता है ॥२५१॥

विवेकियों का आचरण

अपि सुतपसामाशावल्लीर्शिखा तरुणायते

भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता ।

इति कृतधियः कृच्छारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं

चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥२५२॥

अन्वयार्थ : जबतक मनरूपी जड के भीतर ममत्वरूप जल से निर्मित गीलापन रहता है तब तक महालपस्वियों की भी आशारूप बेल की शिखा जवान-सी रहती है। इसीलिये विवेकी जीव चिर काल से परिचित इस शरीर में भी अत्यन्त निःस्पृह होकर सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि में समान होकर- निरन्तर कष्टकारक आरम्भों में- ग्रीष्मादि ऋतुओं के अनुसार पर्वत की शिला, वृक्षमूल एवं नदीतट आदि के ऊपर स्थित होकर किये जाने वाले ध्यानादि कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं ॥२५२॥

तन और चेतन की भिन्नता

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः ।

भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

अन्वयार्थ : जब कि दूध और पानी के समान अभेदस्वरूप से रहने वाले शरीर और शरीरधारी (आत्मा) इन दोनों में ही अत्यन्त भेद है तब भिन्न बाह्य वस्तुओं की-स्त्री,पुत्र, मित्र एवं धन-सम्पत्ति आदि की तो बात ही क्या है; बताओ। अर्थात् वे तो भिन्न हैं ही ॥२५३॥

शरीर से राग छोड़ने की प्रेरणा

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात् ।
इति देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥२५४॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अग्नि के संयोग से जल संतप्त होता है उसी प्रकार में शरीर के संयोग से संतप्त हुआ हूं- दुखी हुआ हूं। इसी कारण मोक्ष की अभिलाषा करने वाले भव्य जीव इस शरीर को छोड करके सुखी हुए हैं ॥२५४॥

मोह-त्याग की प्रेरणा

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वम् विशुद्ध्यति ॥२५५॥

अन्वयार्थ : हृदय में स्थित जो महान् मोह अनादि काल से समान वृद्धि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है उसको जिन महापुरुषों ने समीचीन समाधि के द्वारा श्रान्त कर दिया है- नष्ट कर दिया है- उनका आगे का भव विशुद्ध होता है॥२५५॥

साधुओं को सभी पदार्थ सुख के निमित्त

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिम् शरीरच्युतिम्
दुःखं दुःकृतिनिष्कृतिम् सुखमलं संसारसौख्योज्झनम् ।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५६॥

अन्वयार्थ : जो साधुजन संसार में एकाकीपन को- अकेले रहने को- साम्राज्य के समान सुखप्रद समझते हैं, शरीर के नाश को इच्छित वस्तु की प्राप्ति के समान आनन्ददायक मानते हैं, दुष्ट कर्मों की निर्जरा को उससे प्राप्त होने वाले क्षणिक विषयसुख को- दुखरूप ही जानते हैं, सांसारिक सुख के परित्याग को अतिशय सुखकारक समझते हैं, तथा जो प्राणों के नाश को सब कुछ देकर किये जाने वाले महोत्सव के समान आनन्ददायक मानते हैं; उन साधु पुरुषों के लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुखकर न प्रतीत होती हो? अर्थात् राग-द्वेष से रहित हो जाने के कारण उन्हें सब ही अनुकूल व प्रतिकूल सामग्री सुखकर ही प्रतीत होती है । इसी कारण सचमुच में वे साधु ही निरन्तर सुखी हैं ॥२५६॥

कर्मोदय होने पर मुनिराज को खेद नहीं होता

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः ।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोऽरिः स्वयं
वृद्धिः प्रत्युत्त नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः ॥२५७॥

अन्वयार्थ : जो विद्वान् साधु पीछे उदयमें आने योग्य कर्मस्वरूप उदयगोपुच्छ को- गाय की पूंछ के समान उत्तरोत्तर हीनता को प्राप्त होने वाले कर्मपरमाणुओं को- तीव्र तप के प्रभाव से स्थिति का अपकर्षण करके वर्तमान में उदय को प्राप्त कराता है वह कर्म यदि स्वयं ही उदय को प्राप्त हो जाता है तो इससे उस साधु को क्या खेद होनेवाला है ? कुछ भी नहीं । ठीक है- जो सुभट विजय की अभिलाषा से शत्रु के ऊपर आक्रमण करने के लिये उद्यत हो रहा है उसका वह शत्रु यदि स्वयं ही आकर युद्ध प्रारम्भ कर देता है तो इससे उस सुभट को बिना किन्हीं विघ्न-बाधाओं के अपने आप विजय प्राप्त होती है । वैसी अवस्था में उसके साथ युद्ध करने में भला उसकी क्या हानि होनेवाली है ? कुछ भी नहीं ॥२५७॥

मुनिराज की ध्यानस्थ अवस्था

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वसहत्वाद्

भ्रान्त्याचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः ।

सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिम् बद्धपल्यङ्कबन्धाः

ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८॥

अन्वयार्थ : जिन योगियों ने सब परिषहों के सहने में समर्थ होते हुए सब ही बाह्याभ्यंतर परिग्रह को छोडकर एकाकी (असहाय) रहने की प्रतिज्ञा कर ली है, जिनके विषय में भ्रांति कुछ सोच ही नहीं सकती है अर्थात् जो सब प्रकार की भ्रांति से रहित हैं, जो शरीर जैसे सहायक की सहसा समीक्षा करके कुछ लज्जा को प्राप्त हुए हैं- अर्थात् जो वस्तुतः असहायक शरीर को अब तक सहायक समझने के कारण कुछ लज्जा का अनुभव करते हैं,तथा जो अपने कार्य में (मुक्तिप्राप्ति में) तत्पर हो चुके हैं; वे मनुष्यों में सिंह के समान पराक्रमी योगी मोह से रहित होकर पर्वत, भयानक वन और गुफा जैसे एकान्त स्थान में पल्यंक आसन से स्थित होते हुए उस शरीर के नष्ट करने के उपाय का - परमात्मा के स्वरूप या रत्नत्रय का- ध्यान करते हैं ॥२५८॥

निस्पृह मुनिराज से प्रार्थना

येषां भूषणमङगसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलं

शय्या शर्करिला मही सुविहिता गेहं गुहा द्वीपिनाम् । आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुटयत्तमोग्रन्थयः

ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥२५९॥

अन्वयार्थ : शरीर में लगी हुई धूलि ही जिनका भूषण है, स्थान जिनका शिला का तलभाग है, शय्या जिनकी कंकरीली भूमि है, भलीभांत रची गई (प्रकृतिसिद्ध) सिंहों की गुफा ही जिनका घर है, जो आत्मा और आत्मीयरूप विकल्पबुद्धि से-ममत्वबुद्धि से-रहित हो चुके हैं, जिनके अज्ञान की गांठ खुल चुकी हैं,तथा जो मुक्ति के सिवाय अन्य किसी बाह्य वस्तु की इच्छा नहीं रखते हैं ; ऐसे ज्ञानरूप धन के धारक वे साधु हमारे मन को पवित्र करें ॥२५९॥

चारित्रवन्त साधु धन्य हैं !

दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणैर्

अन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः।

विश्रब्धं हारिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने

धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान् ॥२६०॥

अन्वयार्थ : जो अतिशय वृद्धिंगत तप के प्रभाव से उत्पन्न हुई ज्ञानरूप ज्योति के प्रसार से येन केन प्रकारेण (कष्टपूर्वक) इस आत्मस्वरूप को प्राप्त करके-जान करके-प्रसन्नता को प्राप्त हुए हैं तथा जो मन में हिरणियों के चंचल नेत्रों के द्वारा विश्वासपूर्वक देखे जाते हैं जिनकी शान्त मुद्रा को देखकर स्वभावतः भयभीत रहने वाली हिरणियों को किसी प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होता है- वे ऋषि धन्य हैं। वे अपने अनुपम आचरणों के द्वारा दिनों को (समय को) धीरतापूर्वक चिर काल तक बिताते हैं ॥२६०॥

भेद-विज्ञान की महिमा

येषां बद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं

गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोराराान्न विश्राम्यति ।

यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढम् बहिर्व्याप्तयः

तेषां नोऽत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोस्थिताः पांसवः ॥२६१॥

अन्वयार्थ : अज्ञानी जीवों को आशा और आत्मा इन दोनों के बीच भेद नहीं दिखता है । परन्तु जिन महर्षियों की बुद्धि इन दोनों के मध्य में जाकर उनका भेद करने के बिना बीच में विश्राम को नहीं प्राप्त होती है- भेद को प्रगट करके ही विश्राम लेती है , तथा शांतिरूप अपूर्व

धन को धारण करने वाले जिन महर्षियों ने बाह्य विकल्पों को आत्म स्वरूप में स्थापित कर दिया है, उनके चरणों से उत्पन्न हुई उत्कृष्ट धूलि यहां हमें पवित्र करें ॥२६१॥

सज्जनों द्वारा परिग्रह-त्यागी वन्दनीय

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२॥

अन्वयार्थ : प्राणी ने पूर्वभव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरणा से प्राप्त हुए दुख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान् शुभ को ही करता है पापकार्यों को छोडकर केवल पुण्यकार्यों को ही करता है- वह भी अभीष्ट है-प्रशंसाके योग्य है । किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पुण्य-पाप) को ही नष्ट करने के लिये समस्त आरम्भ व परिग्रहरूप पिशाच को छोडकर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वन्दनीय (पूज्य) है ॥२६२॥

कर्मोदय में उदासीन जीव को नवीन कर्म-बन्ध नहीं

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत् ।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥२६३॥

अन्वयार्थ : संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दुख होता है उससे प्रीति क्यों और खेद भी क्यों, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है-राग और द्वेष से रहित होता है तो उसका पुराना कर्म तो निर्जीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है । ऐसी अवस्था में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अतिशय निर्मल मणि के समान प्रकाशमान होता है- स्व और पर को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान से सुशोभित होता है ॥२६३॥

यतियों की वृत्ति आश्चर्य की भूमि

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा ।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ॥२६४॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) शरीररूप गृह में प्रगट होकर जिस प्रकार लकडी में प्रगट हई अग्नि निर्दयतापूर्वक उस लकडी को भस्म करके उसके अभाव में फिर भी निर्धूम जलती रहती है उसी प्रकार वह भी शरीर को पूर्णतया नष्ट करके उसके अभाव में भी निर्मलतया प्रकाशमान रहता है। ठीक है- मुनियों का चरित्र सब प्रकार से आश्वर्यजनक है ॥२६४॥

मुक्ति में ज्ञानादि गुणों का नाश मानना मिथ्या

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥२६५॥

अन्वयार्थ : गुणवान् आत्मा गुणस्वरूप है- गुण से अभिन्न है । अतएव गुण के नाश का मानना गुणी के ही नाश का मानना है । इसीलिये अन्य वादियों ने (बौद्धों ने) आत्मा के निर्वाण को शून्य के समान कल्पित किया है तथा जैनों ने उस निर्वाण को अन्य राग-द्वेषादिरूप शुभाशुभ भावों से शून्य कल्पित किया है ॥२६५॥

आत्मा का स्वरूप

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥२६६॥
अन्वयार्थ : आत्मा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जन्म से और मरण से भी रहित होकर अनादिनिधन है। वह शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अमूर्त होकर रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से रहित है। वह व्यवहार की अपेक्षा शुभ व अशुभ कर्मों का कर्ता तथा निश्चय से अपने चेतन भावों का ही कर्ता है। इसी प्रकार वह व्यवहार से पूर्वकृत कर्म के फलभूत सुख व दुख का भोक्ता तथा निश्चय से वह अनन्त सुख का भोक्ता है। वह स्वभाव से सुखी और ज्ञानमय होकर व्यवहार से प्राप्त हुए हीनाधिक शरीर के प्रमाण तथा निश्चय से वह असंख्यातप्रदेशी लोक के प्रमाण है । वह जब कर्ममल से रहित होता है तब स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करके तीनों लोकों का प्रभु होता हुआ सिद्धशिला पर स्थिर हो जाता है ॥ २६६॥

अनन्त सुखमय हैं सिद्ध भगवान

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥२६७॥
अन्वयार्थ : तपस्वी जो स्वाधीनतापूर्वक कायक्लेशादि के कष्ट को सहते हैं वह भी जब उनको सुखकर प्रतीत होता है तब फिर जो सिद्ध स्वाधीन सुख से सम्पन्न हैं वे सुखी कैसे न होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे॥२६७॥

ग्रन्थ के अभ्यास का फल

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं
रचितमुचितमुच्चैश्चेतसां चितरम्यम् ।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः
सपदि विपदपेतामाश्रयन्ते श्रियं ते ॥२६८॥
अन्वयार्थ : इस प्रकार कुछ थोडे-से वचनों का विषय करके उनका आश्रय ले करके- जो यह योग्य कृत्य-अनुष्ठान के योग्य चार प्रकार की आराधना का स्वरूप-रचा गया है वह उदार विचार वाले मनुष्यों के चित्त को आनन्द देने वाला है । जो भव्य जीव इसका निरन्तर पूर्णरूप से चित्त में चिन्तन करते हैं वे शीघ्र ही समस्त विपत्तियों से रहित मोक्षरूप लक्ष्मी का आश्रय करते हैं ॥२६८॥

गुरुवर जिनसेनाचार्य का स्मरण

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।
गुणभद्र भदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥२६९॥
अन्वयार्थ : जिन भगवान की सेनारूप साधुओं के आचार्यस्वरूप जो गणधर देव हैं उनके चरणों के स्मरण में चित्त को लगाने वाले एवं कल्याणकारी अनेक गुणों से संयुक्त ऐसे पूज्य आचार्यों की यह आत्मस्वरूप के विषय में शिक्षा देने वाली कृति (रचना) है । दूसरा अर्थ श्री जिनसेनाचार्य के चरणों के स्मरण में चित्त को अर्पित करने वाले गुणभद्राचार्य की यह आत्मानुशासन नामक कृति है- ग्रन्थरचना है ॥ २६९॥ समाप्त

अन्तिम मङ्गलाचरण

ऋषभो नाभिसूनूर्यो भूयात्स भविकाय वः ।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥270॥
अन्वयार्थ : जिनके ज्ञानसरोवर में सकल जगत् कमलवत् भासित होता है वे नाभिराजा के पुत्र (भगवान्) ऋषभदेव तुम्हारे कल्याण के निमित्त होवें ।